

शताब्दी की बैचेनी का कवि अशोक वाजपेयी

डॉ. राजेन्द्र यादव

शताब्दी की बैचेनी का कवि : अशोक वाजपेयी

शताब्दी की बैचेनी का कवि :
अशोक वाजपेयी

डॉ. राजेन्द्र यादव

आयुष पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

प्रकाशक

आयुष पब्लिशिंग हाउस
1/10825, गली नं. 3, सुभाष पार्क,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन : 011-22822514; 9910189445
Email : rajeev02sharma@gmail.com

प्रथम संस्करण : 2016

ISBN : 978-81-83627-12-7

मूल्य : 495/-

मुद्रक

विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अनुक्रम

भूमिका

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में बीसवीं सदी के मनुष्य के साथ, उसके आस-पास कितना भयानक और खतरनाक समय पसरा है जो उसे निगल जाने के लिए 'अंधेरे में' कविता के केन्द्र में है। यह कविता अपने समय के जिस सच को फैंटेसी शैली में हमारे सामने रखती है, वह सच खतरनाक है आजादी के बाद भारत की वास्तविकता जैसी मुक्तिबोध ने देखी वैसी सम्पूर्ण भारतीय कविता में नहीं है। भारतीयों के हाथों में भारत को कैसे चलाया जा रहा है, और आमजन यदि सवाल पूछ बैठे तो उसकी क्या दशा होगी यह जिस साहस के साथ मुक्तिबोध ने व्यक्त किया वह अन्यत्र नहीं। दुश्मन से सीमा की रक्षा करने वाले सिपाही से ज्यादा साहस चाहिए उन लोगों को बेनकाब करने के लिए जिन्होंने भारतीय जनतंत्र पर अंग्रेजों से ज्यादा खतरनाक कब्जा कर लिया है। दिन में सब अपना-अपना काम करते हैं और रात में साहित्यकार, पत्रकार, नेता, न्यायाधीश, जनप्रतिनिधि और हत्यारे सब एक साथ बैठकर समाज और देश को तरह-तरह से लूटने की साजिश करते हैं। लेखक ने इस सबको देखा है। जो भी इन्हें देख लेता है सब मिलकर उसे समाप्त कर देते हैं। आजाद भारत में यदि किसी ने सवाल उठाया कि रात्रि में जो प्रोसेशन निकल रहा है उसमें शहर का हत्यारा डोमा जी भी है, पत्रकार, साहित्यकार भी है बड़े-बड़े अधिकारी जनप्रतिनिधि भी हैं। सवाल यहाँ यह है कि हम अंग्रेजों से सवाल पूछ सकते थे उनका विरोध कर सकते थे वे इतने क्रूर और खतरनाक नहीं थे जितने ये लोग हैं, इनको देख लेने वाले का पता चलते ही ये सब मिलकर ऐसे लोगों की खतरनाक वैचारिक के साथ-साथ दैहिक हत्या भी कर देते हैं। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता के संबंध में शमशेर बहादुर सिंह ने कहा था कि 'यह कविता आजादी के बाद के भारत पर लिखी ऐसी कविता है जो दहकता इस्पाती दस्तावेज है।' बीसवीं सदी किसकी सदी है? भारत के राजनैतिक गणराज्य बनने

की, अंग्रेजी उपनिवेशवाद से स्वाधीन होने की भारत का विभाजन के बाद ही सही एक सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र बनने की या भारत में जनतंत्र की स्थापना की सदी है।

बीसवीं सदी तक आते-आते आदमी ने आदमी के खिलाफ इस धरती पर कितनी खतरनाक तैयारी कर ली है-'लुहार' कविता में यह भयानक सच कवि ने अपनी पूरी मानवीयता के साथ व्यक्त किया है। भारतीय साहित्य या दर्शन में, पौराणिक, अवतार वादी कथाओं में वर्णित अस्त्र-शस्त्र और उनकी विनाशकारी क्षमता से ज्यादा भयावह अस्त्र-शस्त्र इस धरती पर मनुष्य ने अपने ही विनाश के लिए बना लिए हैं। इन शस्त्रों का प्रसार और विस्तार भी लगातार वह कर रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध और उसमें घटित हुई मानव विनाश की एक छोटी सी झलक का स्मरण धरती पर विनाश की तैयारी को हमारे सामने स्पष्ट कर देता है। 'शताब्दी के अंत के कगार पर' अब धरती को बचाने सहेजने का आखिरी छोर भी कवि, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी कुँजड़ा के हाथ से छूट गया है। कवि शब्दों में कारगर हस्तक्षेप कर रहा है, कुम्हार अब भी मिट्टी को मनुष्य की आवश्यकतानुसार ढाल रहा है, लुहार अपनी भट्टी में मनुष्य की कठिनाईयों को तपाकर उन्हें मनुष्य की जरूरत के अनुसार सदियों से जैसा आकार देता आया है आप भी वह अपना काम बखूबी कर रहा है। लुहार ने अपनी भट्टी में ऐसा कुछ नहीं बनाया है जिससे समूची मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पहुँच जाए।

इस सदी के अंत में मनुष्य की सारी दुनिया एक बाजार बन गयी है, कल तक मनुष्य कभी-कभी बाजार जाता था अब उसका घर बाजार बन गया है। मनुष्य को उसके घर को कविता बाजार से अलग उसकी पुरानी दुनिया में वापसी का सपना देखती है, भले यह सपना हो पर मनुष्य की दुनिया के लिए देखा गया किसी कविता का यह सपना बाजार में छटपटाते मनुष्य की बैचेनी से मुक्ति का सपना है और इसके सच हुए बिना इस दुनिया का मानवीय हो सकना संभव प्रतीत नहीं होता। कविता में बार-बार अपने जीने के लिए, खुद को बचाने के लिए, दूसरों को मारने, नष्ट करने के लिए विकसित हो गयी सभ्यता पर कविता जरूरी और मानवीय सवाल उठाती है जिसे यह बीसवीं सदी अनदेखा कर आगे बढ़ती जा रही है। यहाँ कुँजड़ा और उसकी दुकान की सब्जियाँ दोनों समय से बाहर और सदी से बाहर हैं। फिर भी इस सदी के मनुष्य को वह समय के हासिये से देखता है। मनुष्य की व्यापक दुनिया उसके सच और सपने यहाँ

कविता की दुनिया में सिमट आये हैं। जो बीसवीं सदी और उसमें शेष मनुष्य की दुनिया की विनम्र और निर्मम समीक्षा करती है।

कविता की तकनीकी और कवि का अध्यवसाय कविता में श्रम साध्य है। सिनेमा में तकनीकी इफेक्ट की तरह कविता में भी समकालीन हिन्दी कविता से अलग एक नयी सूत्रधार टेकनीक को अपनाया गया है। कविता में कवि और समय के रूप में सक्रिय शब्द और चरित्रों में ढलता समय कविता में जिस तरह के चित्र उपस्थित करता है उससे यह लम्बी कविता अपने समूचे केनवास में सिनेमा हो जाती है और पाठक दर्शक, कविता पढ़ने के बाद लगता है हमने बीसवीं सदी के प्रोशेसन को दिन के उजाले में जनतंत्र की खिड़की से देख लिया है।

—डॉ. राजेन्द्र यादव

अशोक वाजपेयी की कविता का जनतंत्र

कविता मनुष्य द्वारा बनाये गये जनतंत्र का मानवीय विस्तार करती है। साहित्य में जो जीवन रचा जाता है, वह वास्तविक जीवन जैसा ही संवेदनशील होता है। मनुष्य ने जिस जीवन और सभ्यता का निर्माण और विस्तार किया है उसे साहित्य सहेजने का काम करता है। साहित्य की अन्य विधाओं के बावजूद कविता आज भी मनुष्य से मनुष्य बने रहने की अपेक्षा संवेदनशीलता से करती है, उसे पूरा आकाश देती है। कविता सिर्फ शब्दों से नहीं बनती, कविता शब्दों में मनुष्य और उसकी दुनिया के बीच एक विस्तृत आत्मीय रिश्ता बनाती है। शब्दों में कविता मनुष्य और उसकी दुनिया के बीच संवाद और सघनता के साथ संबंधों का इतिहास रचती है। कविता की आयु मनुष्य की आयु से अधिक होती है, इसलिए कविता को हक है कि वह मनुष्य के जीवन उसके द्वारा निर्मित दुनिया पर सवाल उठाये और कभी-कभी हाँफती सभ्यता को रास्ता भी दिखाये।अशोक वाजपेयी के शब्दों में ''कविता अपने घर में होने का अचरज है।'' कविता के घर में मनुष्य का आश्चर्य ठीक वैसा ही है, जैसे समाज में मानवीयता।

बीसवीं शताब्दी मनुष्य की बर्बरता के बावजूद विश्व स्तर पर मनुष्य की स्वतंत्रता और उसके जनतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति की सदी थी। दो विश्व युद्धों के भीषण नरसंहार के बाद भी मनुष्य को जो थोड़ी सी जनतांत्रिक गरिमा मिली है वह इसी बीसवीं सदी में मिली, बीसवीं सदी के नरसंहार और राजनैतिक बर्बरता को कविता ने उसके मानवीय पक्ष के साथ सदी की सच्चाई व्यक्त की थी। कविता भाषा में मनुष्य का सच और उसके सपने को एक उम्मीद की तरह रचती है। जो उम्मीद हम कविता से करते हैं वही उम्मीद कविता काल के आर-पार मनुष्य से करती है। कविता और मनुष्य दोनों कभी-कभी अपनी जनतांत्रिक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। कब, जब कविता उपदेशात्मक या

फतवेबाजी से मानव सभ्यता को नियंत्रित करने का प्रयत्न करने लगती है और मनुष्य जब साहित्य को केवल इतिहास बनाने पर तुल जाता है। साहित्य और कलाएँ मनुष्य की वास्तविक जनतांत्रिकता का विस्तार तथा समाज को सहज और संवदेनशील बनाती हैं। अशोक वाजपेयी की कविता महान् सत्यों व उनके वैभव से अलग मनुष्य की छोटी-छोटी सच्चाइयों के लिए जगह बनाती, तलाशती सहेजती कविता है। जनतंत्र समाज और सभ्यता की कतार में राजनैतिक सामाजिक वैभव से दूर सबसे पिछली पंक्ति में खड़े मनुष्य को उसकी गरिमा लौटाता है, उसे मनुष्य होने और माने जाने का अधिकार देता है।

अशोक वाजपेयी की कविताएँ बीसवी सदीं के महान् सत्यों की चकाचौंध में मनुष्य को उसके समाज, परिवार, रिश्तों की छोटी-छोटी स्मृतियों को फिर से ताजा करती हैं। यही कविता का जनतंत्र है। जिसमें जीवन की सच्चाइयों को कविता फिर हमारे सामने प्रकट करती है। कविता का समाज कवि का कोई काल्पनिक समाज नहीं है, यहाँ कविता का समाज, शब्दों और भाषा के साथ वास्तविक समाज के रूप में दर्ज किया गया है। समय के साथ हम लगातार अनदेखा करते हुए किसी तानाशाह राजनेता की तरह आगे बढ़ते जा रहे हैं। जीवन, उसके रिश्तों, लोगों और वस्तुओं को विस्मृत करते जा रहे हैं। ये कविताएँ उस बीते हुए उपेक्षित जीवन को फिर से केन्द्रीय बनाती हैं। यहाँ यह सवाल लाजिमी है कि आजाद भारत की राजनैतिक, साम्प्रदायिक उथल-पुथल और आंदोलन अशोक वाजपेयी के काव्य संसार से बाहर हैं। क्यों? इसका ठीक-ठीक जबाव कविता ही देती है। हिन्दी कविता के खासकर आधुनिक हिन्दी कविता के आन्दोलनों में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नयी कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता, सामाजिक आंदोलन का नेतृत्व करने वाले कविता युग अधिक रहे हैं। हिन्दी कविता अपने प्रत्येक आन्दोलन में भाषा में अपने पूर्ण आवेग और अभिव्यक्ति के साथ समाज में सामाजिक, आर्थिक के साथ राजनैतिक जनतंत्र की स्थापना की प्रबल पक्षधर रही है। निराला, नागार्जुन त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, अज्ञेय, मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार त्यागी की काव्य चेतना और काम-अभिव्यक्ति भारतीय समाज में जनतंत्र की स्थापना, व्याख्या और विस्तार की रही है, समकालीन कविता आन्दोलन का सच समय के दबावों में लगातार छूटती जा रहे मनुष्य और उसकी स्मृतियों, रिश्तों, को उसकी वस्तुओं के साथ शब्दों में भाषा में पुनर्नवा करने का है। यहाँ कविता ने अपने को राजनैतिक शब्दावली से मुक्त कर अपने समय के मनुष्य तथा

उसके निजी संसार से एक गहरा और मानवीय रिश्ता बनाया है, जो बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कविता में मनुष्य और उसके संबंधों की वापसी का विनम्र आग्रह भी है। हिन्दी कविता में अपने पूर्व कविता-युगों-आन्दोलनों से भिन्न समकालीन कविता में अपने विशिष्ट काव्य-विषयों और मानवीयताओं से रचा बसा अशोक वाजपेयी की कविता का जनतंत्र है। जिसमें मुहल्ले, पड़ोस, रिश्तों, लोगों से भरा पूरा कविता का समाज है, जिसे आजादी के बाद हमने खो दिया है, हमसे छूट गया है।

'शहर अब भी संभावना है' कविता संग्रह से शुरू अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा अब भी जारी है। अपनी कविताओं पर उन्होंने बेवाकी से कहा है कि "मुझे देहवादी, रीतिपरक और रति-आक्रान्त कवि कहा गया है। अव्वल तो मैंने जितना प्रेम पर लिखा है, लगभग उतना ही मृत्यु और अनुपस्थिति पर भी। जितना हर्ष उल्लास पर उतना ही विषाद और उदासी पर भी। दूसरे, मुझे लगता है कि भारत में श्रृंगार की भी एक अटूट परम्परा है, जो हमारी छद्म और पश्चिम से आक्रान्त आधुनिकता नजरअंदाज करती रही है। मैंने कुछ सजगता के साथ इस उत्तराधिकार को सहज स्वीकार करते हुए रति और श्रृंगार को एक प्रतिषेध के रूप में, पुनराविष्कृत करने की यत्किंचित् चेष्टा की है। आज जब आधुनिक भारतीय पर, उसके ऐन्द्रिय-बोध पर उसकी अन्तरंग और निजी सच्चाइयों पर लगातार हमला हो रहा है। कविता की ऐन्द्रिकता भरी-पूरी बेहिचक आदमियत का एक जरूरी इजहार है।"[1] स्वतंत्रता के लम्बे संघर्ष के बाद आजादी तो मिल गयी पर उस आजादी को हम संभाल नहीं पाये। भूमण्डलीकरण और संचार क्रांति के रूप में दबे पाँव आए पूँजीवाद ने शीघ्र ही प्रगति के बहाने एक नयी गलाकाट प्रतिस्पर्धा को भारतीय समाज व्यवस्था में स्थापित कर दिया। पूँजीवाद की इस बेरहम दौड़ ने सदियों से चले आ रहे सामाजिक मूल्यों और मनुष्यता को सिरे से खारिज कर दिया। आजाद भारत को संविधान ने जिस समता, बंधुता, न्याय, समाजवाद के रूप में जनतंत्र की स्थापना का सपना दिखाया था, वह उन्नीस सौ सत्तर यानी आजादी के पहले दो दशक में ही टूट गया। भारतीय समाज की सबसे मजबूत इकाई संयुक्त परिवार था, जिसे पूँजीवाद ने बिखेर दिया। राजनीति और अर्थशास्त्र, समाज और उसकी संस्थाओं को गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। भारत 1947 में एक स्वतंत्र राजनैतिक राज्य बना। इस राज्य को संचालित करने वाली संस्थाओं ने अनेक स्तर पर इस गणराज्य को संरक्षित कर विश्व में इसकी एक जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में छवि स्थापित की। देश

के खराब आर्थिक हालात और सम्पूर्ण देश में बुनियादी सुविधाओं के अभाव की पूर्ति करने के संघर्ष में विकास की राह चलते-चलते हम कब पूँजीवादी हो गये, पता ही नहीं चला। इस विकास के रास्ते आये पूँजीवाद ने हमारे जीवन के पारिवारिक-सामाजिक मूल्य हमसे छीन लिए। अशोक वाजपेयी की कविता का जनतंत्र इन मूल्यों और मान्यताओं की वापसी का आग्रह करता है। 'शहर अब भी संभावना है' कविता संग्रह में ''अपनी आसन्नप्रसवा माँ के लिए तीन गीत'' आधुनिक हिन्दी कविता में माँ पर लिखी अब तक की कविताओं में श्रेष्ठ माने गये हैं। जीवन जिस परिवार से शुरू होता है उसकी स्मृतियाँ भी अब आधुनिक जीवन से छूट रही हैं। उन्हीं स्मृतियों में कविता हमें वापस ले जाने की कोशिश करती है। समाज जहाँ पहुँच गया है वहीं कवि भी, पर कवि जीवन में भले ही न लौट पाये, पर अपनी कविता में वह वापस लौटना चाहता है, उन लोगों और रिश्तों के धड़कते संसार में, जहाँ से वह चला था -

माँ,
लौटकर जब आऊँगा
क्या लाऊँगा?[2]

एक कवि का जनतंत्र उसके शब्दों, भाषा, संवेदना के साथ कविता का जनतंत्र तब बनता है, जब कविता वास्तविक राजनैतिक जनतंत्र की प्रवक्ता होने से बचकर समाज और उसके रिश्तों की समीक्षा करती है। मनुष्य को जीवन के लिए जितने अवसर और साधन कविता देती है, अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। यहाँ ''बसंत के लिए कामना'' है। कविता में आधुनिक नगरीय सभ्यता के चित्र में हमारी बसंत की महक कहीं छूट गयी है -

उत्सव की लपटों में
मेरा नगर जल रहा है,
मेरे मित्रों की आँखें सूखकर
चट्टानों के काले टुकड़े बनती जा रही हैं-
और एक छूँछा आकाश मेरे सिर पर लदता जा रहा है।[3]

नगरीय जीवन की चमक और चकाचौंध पश्चिमी सभ्यता के रूप में जिस तरह हमारे प्राकृतिक बसंत और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संबंध से हमें बेदखल किए जा रही है? इसका यहाँ गहरा एहसास है कि यह कवि दृष्टि है और कविता का पक्ष भी। अशोक वाजपेयी अपनी कविता के द्वारा समाज में

भारतीयता की पहचान भी करते हैं। और उसकी स्थापना भी। "तुलसी ने सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना सपना रचा था।"[4] अशोक वाजपेयी ने भी अपने काव्य-संसार में भारतीय साहित्यिक जनतंत्र का काव्यात्मक सपना कविता के सच के साथ रचा है, जिसमें वह वापस आना चाहते हैं। 'शहर अब भी संभावना है' संग्रह से ही कविता में माँ/सूर्यास्त/उषाओं के गर्भ में/पहला चुम्बन/जब हम प्यार करते हैं/सुबह/साँझ प्यार करने के लिए/कहाँ होती है दुनिया/'खुल गया है एक द्वार', शीर्षक कविताओं में साठोत्तरी हिन्दी कविता से उसकी राजनैतिक भाषा और कार्यवाही से अलग जीवन और उसके होने-बीतने की दुनिया विस्तार पाती है। साहित्य तथा अन्य कलाओं के बीच भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक गहरा और जरुरी रिश्ता रहा है। एक हजार वर्षों की राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमणों और आयातित संस्कृतियों का प्रभाव साहित्य और कलाओं के बीच के संबंध पर भी पड़ा। अंग्रेजों के शासन में साहित्य और कलाओं को संरक्षण ऐतिहासिक धरोहरों के नाम पर मिला। पर अंग्रेजों की नीतियों ने साहित्य और कलाओं की साझा अभिव्यक्ति के नाम पर बाँटने की नीति को ही लागू किया। अंग्रेज भारत की हिन्दू-मुस्लिम एकता और घुली-मिली संस्कृति को विभाजित करके ही यहाँ आपसी असंतोष उत्पन्न कर अपने अधिकार में भारत को रख सकते थे। जो कि उन्होंने लगातार किया भी, भौगौलिक रुप से ही नहीं सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर भी अंग्रेजों के द्वारा किया गया विभाजन तीसरे परमाणु विश्व युद्ध का कारण बन सकता है। ज्ञात हो कि जैसे बँटवारा पहले कागज पर होता है, फिर जमीन पर और हमेशा रिसता रहता है घाव बनकर, राष्ट्र की आत्मा पर विभाजन की यह लकीर साहित्य और कलाओं से प्रारम्भ होकर जमीनी हकीकत बन गई, एक खतरनाक रेखा। धर्म, मजहब और सम्प्रदाय के नाम पर जो हिंसा हुई थी 1947 में, उसके चिह्न जब-तब अब भी नजर आ जाते हैं। मजहब के नाम पर बँटवारा हुआ, नया राष्ट्र बना। विभाजन की त्रासदी को पाटते हुए आधुनिक हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी ने समकालीन कलाओं को भी प्रमुखता से जगह दी। उन्हें हिन्दी कविता में अभिव्यक्त किया। अपने समकालीन विश्वप्रसिद्ध चित्रकार एम. एफ. हुसैन के बनाये एक चित्र की स्मृति हिन्दी कविता में आँखे खोलती है।

'उजाले की दो गहरी लाल आँखें
मुड़ गईं उस सड़क पर

जो मेरे घर के अँधेरे के पास से
गुजरती है ..... ।[5]

यहाँ मकबूल फिदा हुसैन के चित्रों के रंग अपनी नयी अभिव्यक्ति पाते हैं। कविता में चित्र, चित्रकला की भाषा और दुनिया को नयी अभिव्यक्ति मिली है। जो चित्र के साथ उनके रंगों के संयोजन और निहित कथ्य को रचनात्मक विस्तार देती है। कविता भाषा में, शब्दों में दूसरी कलाओं को रचने-सहेजने और अभिव्यक्त करने को जरूरी विस्तार देती है। अपने समकालीन संगीत की शास्त्रीयता कविता में ध्वनियों के साथ शब्दों में एक नये अर्थ में सृजित होती है, अभिव्यक्ति पाती है। अली अकबर खाँ के सरोद के स्वर अशोक वाजपेयी के पहले कविता संग्रह से ही हिन्दी कविता में सुनाई दिये।

खिड़की से एक पीला गुलाब रह रहकर टकराता रहा।
वहीं वह झुकी खड़ी रोती रही
मैं सुनता रहा .....
कोई अपनी उँगलियों से
काँपता-काला आकाश
मेरी ओर खींचता रहा
खींचता रहा ..... ।[6]

'तिनका-तिनका' कविता संग्रह की भूमिका में अपने काव्य-संसार पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है कि "मैं अपने लेखन के आरम्भ से सिर्फ कविता लिखने तक महदूद न रहकर अपने समय और समाज में उसके लिए जगह बनाने की कोशिश में लगा रहा हूँ। इस चेष्टा ने बाद में विस्तार पाकर कविता के अलावा अन्य कलाओं को भी समेटा।"[7] 1941 में जन्मे अशोक वाजपेयी ने अब तक साहित्य और कलाओं के एक हजार से अधिक आयोजन करने में तथा उनके संचालन-संवर्धन में उनकी प्रमुख भूमिका रही है। साहित्य और कलाएँ हमारे देश में एक बड़ी कालावधि में राजनैतिक शक्तियों के संरक्षण में ही पल्लवित-पुष्पित और विकसित होती रही हैं। राजनैतिक परिस्थितियाँ बदलते ही साहित्य और कलाओं की स्थिति, संरक्षण और विकास पर असर होना स्वाभाविक था। गुप्तकाल, मौर्यकाल, चन्देलकाल, बुन्देला युग, राजपुताना युग, मुगल युग तक के राजनैतिक शासकों की कला, संगीत, साहित्य के प्रमाण आज भी उस युग के वैभव को कलाओं के रूप में हमें गहरे स्तर पर प्रभावित और

आकर्षित करते हैं। अंग्रेज़ शासन काल में भारतीय साहित्य और कलाओं की स्थिति अवरुद्ध रही। आजादी के बाद सब कुछ नया-नया-सा था। बँटवारे की दीवार और साम्प्रदायिकता के भयावह संघर्ष ने साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, सिनेमा सभी को गहरे स्तर पर प्रभावित और विचलित किया। राजनैतिक रूप से देश एक हो गया और सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से खण्ड-खण्ड। ऐसे में हिन्दी कविता ने लगातार विभाजन के दर्द, उसकी साम्प्रदायिकता को अपने कैनवास में चित्रित किया। 1965 में भारत-चीन युद्ध में नेहरू के राजनैतिक समाजवाद की वास्तविकता सामने आ गयी। आजादी का सपना टूट गया। साहित्य ने अपनी मुखरता के साथ नेहरू युग पर सवाल उठाये। कविता ने अपना धैर्य खो दिया। कविता राजनैतिक भाषा में सामाजिक भूमिका की अग्रगामी बन गयी। कलाएँ, संगीत और कविता का जो संबंध है, जाहिर है, ऐसे में संभव नहीं। इसी असंभव को अशोक वाजपेयी ने अपने काव्य-संसार और वास्तविक जीवन की प्रतिबद्धता से संभव बनाया।

समकालीन हिन्दी कविता में चिड़िया, ईश्वर, अनंत, पृथ्वी, प्रेम के लिए लगातार जगह खोजती कविता यहाँ प्रेम के रूपक में शब्द स्पर्श की अनुभूति बन जाते हैं। प्रेम में, प्रतीक्षा में अंततः यह सारी पृथ्वी प्रेम के लिए, कविता के लिए, शब्दों में प्रकृति के स्पंदन को लिखने-सुनने के लिए 'थोड़ी सी जगह' है। अशोक वाजपेयी के कवि स्वभाव में साठोत्तरी कविता के कोलाहल के बीच हिन्दी में यही कविता की वापसी है, जिसे प्रारम्भ में सभी ने नज़र-अंदाज किया, पर अब समकालीन कविता एक आंदोलन के रूप में एक कविता युग के रूप में अपनी पहचान पुख्ता कर चुकी है, ऐसे में अब किसी को भी यह गुरेज नहीं कि कविता राजनैतिक शब्दावली से अलग मनुष्य के आंतरिक क्षितिज का विस्तार करती है। कविता नारा या पोस्टर नहीं है, कविता मनुष्य को और ज्यादा संवेदनशील मनुष्य बनाने का उपक्रम भर है। कविता अपनी मानवीय परिधि के विस्तृत धरातल पर जब प्रेम के लिए अपने पंख फैलाती है, तो यह पृथ्वी प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह ही दिखाई देती है।

आकाशगंगाओं के तुमुल के बीच
थोड़ी सी जगह -
अंतिम शब्द और
मौन के बीच -
उस अस्फुट गान में

अनन्त को पड़ोस में
वहीं मैं तुम्हें प्यार करूँगा।[8]

भारतीय स्थापत्य कला की विश्वस्तरीय धरोहर 'खजुराहो' के आज से एक हजार वर्ष पहले निर्मित मंदिर, अपने जीवंत मानवीय रूप में कविता में बोलने लगते हैं। खजुराहो के मंदिरों की बाह्य दीवारों पर अंकित पत्थर की मूर्तियों और उनकी भाव-भंगिमाओं को, हिन्दी की आधुनिक कविता में अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में देखा जा सकता है। चित्रकला, संगीत, स्थापत्य-कला, को उनके पूरे मानवीय सरोकारों के साथ कविता में नये रूप में रचा गया है।

पत्थर चूमता है
पत्थर को
पत्थर को बाँहों में भींचता है
पत्थर
पत्थर करता है मर्दन
पत्थर का
पत्थर से केलि करता है पत्थर।[9]

आधुनिक भाषा और आधुनिक कविता से जिस तरह की उम्मीद की जाती है, अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में इतिहास की स्थापत्य-कला की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ कविता में कलाओं के जनतंत्र को जिम्मेदारी से रचा गया है। कलाओं के साथ सदियों पुराने मानव-इतिहास के स्थापत्य को भी यहाँ कविता में उसकी पूरी अंतरंगता के साथ शामिल किया गया है। हिन्दी कविता का यह नया विस्तार है। जहाँ पत्थरों की बारीक सिलवटें और भाव शब्दों में खुलने-सुलगने लगते हैं। पत्थर जीवित हो उठते हैं।

समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक यथार्थ का जिस तरह चित्रण हुआ है, उस पर अशोक वाजपेयी ने अपनी प्रेम कविताओं के संग्रह की भूमिका में लिखा है कि ''व्यापक जीवन में तो नहीं पर, इधर की हिन्दी कविता में प्रेम के लिए थोड़ी-सी जगह ही बच पायी है। हमारी कविता में तथाकथित सामाजिक सच्चाई का ऐसा आतंक है कि निजी अंतरंग अनुभव भी उसी हद तक कोना-अँतरा पाते हैं, जिस हद तक वे उस सच्चाई के हिस्से बनकर प्रगट हो सकें। प्रेम जीवन और भाषा दोनों में ही अपना समय और अनंत अलग रचता आया है, सदियों वह स्थायी कवि समय रहा है। जिसने जीवन में प्रेम न किया हो, वह मनुष्य

क्या और जिसने कविता में प्रेम न किया हो, वह कवि क्या?[10] "प्रेम के लिए हिन्दी कविता में जब जगह ही नहीं बची थी, तभी अशोक वाजपेयी ने प्रेम और जीवन के अंतरंग पक्षों पर प्रेम और प्रणय के आग्रह से भरी कविताएँ रचकर कविता में प्रेम के लिए जरूरी जगह बनायी। उनकी प्रेम कविताओं में प्रेम के रूपक/थोड़ी सी जगह/पूरी की पूरी पृथ्वी/प्रतीक्षा में प्रेम/वहीं है बसंत आदि कविताएँ प्रेम की, प्रणय की, हिन्दी कविता में रीतिकाल से भिन्न अपने आधुनिक मानवीय सौन्दर्यबोध को स्थापित भी करती हैं और समाज बोध के आधिक्य के बरक्स हिन्दी कविता में प्रेम और आसक्ति को एक जरूरी जमीन भी देती हैं -

तुम जहाँ कहो
वहाँ चले जाएँगे
दूसरे मकान में
अँधेरे भविष्य में
न कहीं पहुँचने वाली ट्रेन में
जहाँ तुम कभी खुद नहीं आना चाहोगे
वहाँ तुम कहो तो
चले जाएँगे .....।[11]

जीवन और उसकी गहरी आसक्ति अशोक वाजपेयी की कविता के जनतंत्र में अभिव्यक्त हुई है। साठोत्तरी हिन्दी कविता में जो असफलता, निराशा और हताशा केन्द्रीय हो उठी थी, कविता में जीवन और मृत्यु के साथ इसी अच्छी-बुरी दुनिया में कविता के, शब्दों के भरोसे कवि वापस आना चाहता है। जीवन के साथ मृत्यु को अपनी कविताओं में जैसे अशोक वाजपेयी ने अभिव्यक्ति दी है और इसी दुनिया में लौटने की जिद की है। हिन्दी कविता में और किसी ने जीवन में, कविता में मृत्यु को, अंत को इस तरह अपनत्व से नहीं देखा। यहाँ मृत्यु की भयावहता और डर सिरे से गायब है, यहाँ जीवन के उत्सव में मृत्यु के चेहरे पर उदासी की लकीरें साफ़ दिखाई देती हैं -

कोई नहीं देख पायगा
हमारा न होना
जैसे प्रार्थना में डूबी भीड़ से
लोप हो गये बच्चों को
कोई नहीं देख पाता।[12]

कविता के शब्दों में भाषा में और अपने समय के अनहद गायक कुमार गंधर्व की मृत्यु का विराट वर्णन मृत्यु पर अब तक की कविता यात्रा में समूची हिन्दी कविता में लिखा गया पहला शोकगीत है। ''बहुरि अकेला'' शीर्षक संग्रह से रचे इस शोकगीत में मृत्यु और जीवन के बीच के खालीपन में लोग हैं, उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं में बीतता हमारा समय है और समय में विदा हो गये कुमार गंधर्व के जीवन का संघर्ष है, जिसे कविता में, शब्दों में अपनी गहरी सघन अनुभूतियों, के धरातल पर उतारा गया है। साहित्य, कविता और कलाएँ, संगीत और उनके रचनाकार सब बीसवीं शताब्दी में समाहित हो गये हैं।

झरती हुई पत्ती जानती है कि वह मरने जा रही है?
सरलीकृत समय में कठिन शब्द जानता है कि
एक दुर्बोध कविता में उसका जाना उसका अंत है?
राग के खण्डहर में भटक गया सुर पहचान पाता है
कि वह उसका लोप है?
जो नहीं है उसके कई नाम हैं
लोप अनुपस्थिति अंत समापन मृत्यु अवसान
पर सभी उसके होने को याद करते हुए
कोई भी नहीं जो उसके न होने को व्यक्त करे।[13]

यहाँ कविता से जितनी उम्मीद की जाती है, किसी और से नहीं। हिन्दी कविता में कुमार गंधर्व की आवाज उनके फेफड़ों से उठकर उनकी मृत्यु के बाद यहाँ लगातार गूँजती है, जिसे शब्दों में उनके राग के साथ महसूस किया जा सकता है। कविता में यह महाकाव्यात्मकता की चुनौती है, जिसे कवि ने हिन्दी में संभव बनाया है। कवि के श्रम और उसकी बैचेनी को यहाँ उसके शब्दों में, भाषा में, संवेदना में किसी राग के स्वर की तरह रह-रहकर विदा होते कुमार गंधर्व को सुना जा सकता है। प्रकृति, लोग, पड़ोस, देवता, शून्य, दिगन्त के अनेक द्वार खोलतीं ये कविताएँ समकालीन कला और संगीत के लिए हिन्दी कविता में नयी जगह बनाती हैं, जो पहले नहीं थी।

आधुनिक हिन्दी कविता में यह कविता और भाषा का नया जनतंत्र है, जिसमें समकालीन कलाएँ कविता की विषय-वस्तु बन जाती हैं। मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी कविताएँ सिर्फ शब्दों का विन्यास भर नहीं हैं। यहाँ ईश्वर और उनमें कोई फर्क करना कविता में संभव नहीं रहता -

वे मल्लिकार्जुन मंसूर हैं
वे धीर समय हैं
अविचल काल हैं
निश्छल हँसी हैं .... ।[14]

समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी का काव्य-संसार समकालीन जीवन में अलक्षित हो चुके जीवन और उसकी निजी स्मृतियों की दुनिया में वापसी का संसार है। यहाँ देवता हैं, पुरखे हैं, परिवार है, पड़ोस है और उनके नये अर्थ और स्मृतियों को खोलती भाषा है। बीसवीं सदी में अकेले हो गये एक संवेदनशील कवि की बैचेनी का युगबोध है। अपने समय का खामोश सामाजिक तनाव है, जो जीवन में अपने न होने को शब्दों में भरने का उपक्रम बन गया है। यहाँ कविता बीसवीं सदी में छूट रहे, टूट रहे रिश्तों के खालीपन में जीवन की जरुरी समीक्षा है। साहित्य में समकालीन जीवन के साथ समकालीन कलाओं का गहरा संबंध है। मनुष्य से उसकी मनुष्यता छीन रही शक्तियों का साहित्य के साथ कलाएँ भी प्रतिरोध करती है, कलाओं का यही प्रतिरोध समकालीन कविता में यहाँ गहरी अर्थमयता के साथ दर्ज किया गया है। इसी अर्थ में अशोक वाजपेयी कविता का जनतंत्र रचते हैं। समकालीन कविता में जीवन की स्मृतियों के साथ समकालीन कलाओं को भी यहाँ शामिल किया गया है। कविता के कलाओं से संबंध पर अपने काव्य संग्रह 'उजाला एक मंदिर बनाता है' की भूमिका में उन्होंने कहा है कि "शुरू से ही मुझे लगता रहा है कि कलाओं में जो जीवन प्रगट विन्यस्त होता है। वह उतना ही सार्थक, स्पन्दित और समृद्धिकारी है, जितना सीधा जीवन। बल्कि कलाओं में जीवन अधिक संपुंजित और सघन होता है। मुझे यह भी लगता है कि मनुष्य ने जो अनन्त अपने लिए गढ़ा है, उसका बड़ा हिस्सा कलाओं का है इसलिए मुझे अपनी कविता का एक काम इस रचे हुए जीवन और गढ़े गये अनन्त को सहेजने का लगता रहा है।"[15] अशोक वाजपेयी की कविताओं में शताब्दी के अंत के कगार पर कवि के साथ कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी, कुँजड़ा भी है, वहीं सैयद हैदर रज़ा, एम.एफ. हुसैन के चित्रों के रंगों के साथ मल्लिकार्जुन मंसूर, अली अकबर खाँ और कुमार गंधर्व के सुर भी हैं। खजुराहो के बोलते पत्थर भी हिन्दी कविता को यहाँ समृद्ध करते हैं। अशोक वाजपेयी की कविताएँ मनुष्य का आंतरिक विस्तार करती हैं। समय की चकाचौंध में लगातार जीवन जैसे हाथ से छूटता जा रहा है। यहाँ कविता जीवन की कोई नयी व्यवस्था नहीं बनाती, बल्कि जीवन में उसकी स्मृतियों को

वापस लौटाने सहजने का जतन करती है। मनुष्य से लगातार मनुष्य बने रहने की जिद और उम्मीद यहाँ है। कविता यहाँ भाषा में, शब्दों में, जीवन का, मनुष्यता का सपना दिखाती है, वह सपना जो लगातार टूटता जा रहा है। यहाँ कविता परिवार के साथ देवताओं और पुरखों को पुनः विन्यस्त करती है और इसी अच्छी-बुरी दुनिया में प्रेम के लिए थोड़ी-सी जगह बनाती है। अंत के बाद इसी दुनिया में फिर लौटने का सपना दिखाती है। यहाँ कविता समय से बाहर हो गये जीवन की पहचान कराती है। उसे हाशिए से केन्द्र में स्थापित करने का आग्रह करती है। समकालीन मनुष्य की सामाजिक सच्चाई के अंतःकरण में प्रवेश करती यह कविता समकालीन समाज की उस मानवीयता को लक्ष्य करती है, जो तथाकथित सामाजिक सच्चाई की कविता में अलक्षित दिखायी देती है।

संदर्भ

1. तिनका-तिनका- 1 पृ. 15/प्रवीण प्रकाशन दिल्ली, अशोक वाजपेयी
2. तिनका-तिनका- 1 पृ. 34
3. तिनका-तिनका- 1 पृ. 37
4. अशोक वाजपेयी की कविता और आलोचना/डॉ. राजेन्द्र यादव-सागर प्रकाशन
5. तिनका-तिनका- 1 पृ. 77
6. तिनका-तिनका- 1 पृ. 78
7. तिनका-तिनका- 1 भूमिका से
8. तिनका-तिनका- 1 पृ. 376
9. तिनका-तिनका- 1 पृ. 388
10. थोड़ी सी जगह/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली/अशोक वाजपेयी/भूमिका
11. तिनका-तिनका- 2 पृ. 19 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली/अशोक वाजपेयी।
12. तिनका-तिनका- 2 पृ. 25 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
13. तिनका-तिनका- 2 पृ. 166 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
14. तिनका-तिनका- 2 पृ. 344 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
15. उजाला एक मंदिर बनाता है/राजपाल एण्ड संस, दिल्ली/अशोक वाजपेयी/भूमिका।

शताब्दी की बैचेनी का कवि : अशोक वाजपेयी

विगत सदी का समय, कविता के समय में अशोक वाजपेयी ने 'शताब्दी के अंत के कगार पर लिखी लम्बी कविता में मुक्ति बोध की लम्बी कविता ''अंधेरे में'' से आगे के समय की घुटन और त्रासदी को पूरी संवेदना से दर्ज किया है। शब्द, कवि, पृथ्वी, प्रेम, आकाश, जिजीविषा, मृत्यु और समय उनकी कविता के केन्द्रीय विषय रहे हैं। अपने समय और उसमें बीत रही मनुष्य की संवेदना लगातार अशोक वाजपेयी की काव्य संवेदना के केन्द्र में रही है। आधुनिक हिन्दी कविता में अपने निजी संसार को जिस विनम्रता और अपनत्व के साथ अशोक वाजपेयी की कविताओं में देखा गया है, वह एक कवि की निजता का सच्चाई से किया गया सार्वजनीकरण है। कविता में अशोक वाजपेयी का साफ व्यक्तित्व अपनी पहली ही नज़र में हमारा अपना हो जाने वाला व्यक्तित्व है। भाषा में, काव्य में, शब्द परम्परा और शब्द आवृत्ति के साथ कवि अपने 'अध्यवसाय' में हिन्दी कविता को उसकी प्राचीन परम्परा के स्मरण के साथ नयी वैश्विकता में स्थापित करना चाहता है। एक कवि का समय अपनी निजता के साथ कैसे पूरी पृथ्वी का समय हो सकता है। यह पूरी की पूरी पृथ्वी प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह कैसे बन जाती है। यह अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में घटित होते देखा जा सकता है। समय की संवेदनाओं का भार शब्द और भाषा कैसे उठते हैं मुक्तिबोध ने अपने कवि कर्म से स्पष्ट किया था।' ब्रह्मराक्षस और 'अंधेरे में' लिखी मुक्तिबोध की दो लम्बी कविताओं में अपने समय की भयानक सच्चाई को दर्ज और व्यक्त किया गया है। 'ब्रह्मराक्षस और 'अंधेरे में' दोनों कविताओं का मुख्य किरदार कवि ही है। 'ब्रह्मराक्षस' में उसका संघर्ष अपने आत्म से है और अंधेरे में वही संघर्ष सार्वजनिक है। ब्रह्मराक्षस में अपने जीवन के किये-धरे के साथ हो गयी चूक, भूल और अपराधों को स्वीकार और उससे बाहर निकलने की अंतहीन कोशिश है। वहीं 'अंधेरे में' अपने आत्म की पहचान हो जाने पर

अपने अस्तित्व के निर्माण के लिए उत्तरदायी विचारों को भी मस्तिष्क में स्केन करने वालों से अपने आत्म की असुरक्षा से घिरा एक कवि है। मुक्तिबोध ने अपनी लम्बी कविता 'अंधेरे में' में अपने कवि श्रम से अपनी निजी बैचेनी को सार्वजनिक अभिव्यक्ति दी है। एक कवि अपने समय की व्यापक अमानवीयता को जिस साहस के साथ जीता है, सहता है शब्दों में, कविता में प्रार्थनाओं की तरह रख देता है। बीसवीं सदी के समय की खण्ड-खण्ड बैचेनी हिन्दी कविता की विभिन्न धाराओं में आंदोलनों में, वादों में लगातार देखने को मिलती है। तीन सदियों से अधिक समय अंग्रेजों के किये धरे की हमारी भक्ति-रीति कालीन भाषाएँ वैसा अभिव्यक्त नहीं कर पायीं जैसी जरूरत थी। खड़ी बोली हिन्दी ने धीरे-धीरे अपनी व्यापकता स्थापित की। नये समय को नये अंदाज में हिन्दी कविता ने युगीन तनावों और दबाबों को अभिव्यक्त किया। उन्नीस सौ से उन्नीस सौ सैंतालीस तक का सफर हिन्दी कविता में उसके विकसित होने का समय है। इस सफर में हिन्दी कविता के विकास को राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता युगों की अभिव्यक्ति में दर्ज किया गया है।

आजादी के बाद का समय हिन्दी कविता में नयी कविता का समय माना जाता है। हिन्दी कविता में आजादी के डेढ़ दशक का समय ऐसा है जिसमें हिन्दी के अनेक महान् कवि स्वयं मौजूद थे। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, 'निराला' महादेवी वर्मा, प्रसाद, त्रिलोचन, नागार्जुन, कैदारनाथ अग्रवाल, नरेश मेहता, मुक्तिबोध, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, रामधारी सिंह दिनकर, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, धूमिल, श्रीकांत वर्मा आदि। उल्लेखनीय हैं। नेहरू युग के वैभव और विकास के रास्ते पर आगे बढ़ते हुए भारत की तस्वीर इस युग की हिन्दी कविता के केन्द्र में है। उन्नीस सौ बासठ में चीन से भारत की हार से नेहरू युग के सपनों और वैभव का अंत हो गया। हिन्दी कविता ने भी करवट ली। साठोत्तरी हिन्दी कविता ने नेहरू युग की खबर ली। हिन्दी कविता का सबसे सख्त अंदाज साठोत्तरी कविता में ही दिखायी दिया। हिन्दी कविता चीख पुकार और नारा बन गयी। भारतीय जनतंत्र पर ही सवाल उठाये जाने लगे। हिन्दी कविता कार्रवाई की भाषा बोलने लगी। नये जनतंत्र की तलाश की जाने लगी। सुदामा प्रसाद पाण्डे 'धूमिल' को इसका प्रतिनिधि माना जाता है। अशोक वाजपेयी का पहला काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' उन्नीस सौ छियासठ में प्रकाशित हुआ। यह काव्य संग्रह साठोत्तरी हिन्दी कविता के तनाव से मुक्त है। 'शहर अब भी

संभावना है' संग्रह की कविताओं में कवि अपनी निजी और सार्वजनिक जीवन की विनम्र आस्था व्यक्त करता है। कवि अशोक वाजपेयी साठोत्तरी हिन्दी कविता के आक्रोश को अनदेखा कर जीवन में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावना व्यक्त करते हैं। अपने पहले काव्य संग्रह से ही अपने समय के दबाबों और तनावों को खारिज करने वाले कवि को शताब्दी के अंत की कगार पर बीती एक सदी में अर्थहीन हो गया मानवीय जीवन पर तरस आ गया। अपने दर्जन भर से अधिक काव्य संग्रहों के केन्द्र में जगत जीवन, आस-पड़ोस और प्रेम के लिए यह पूरी की पूरी पृथ्वी, थोड़ी सी जगह ही तो है। कवि को बीसवीं शताब्दी के अवसान पर पिछली एक सदी में मनुष्य के जीवन पर हुए अमानवीय अतिक्रमण ने गहरे अर्थ में अपनी ओर कवि को आकृष्ट किया। अशोक वाजपेयी का कवि व्यक्तित्व हिन्दी की समकालीन कविता में उनके शब्दों में रचे अभिजात्य के लिए विख्यात रहा है। अज्ञेय के बाद हिन्दी कविता में जितने प्रयोग अशोक वाजपेयी ने किए हैं और किसी ने नहीं किए। इस अर्थ में वे हिन्दी कविता में एक और अज्ञेय हैं। हिन्दी कविता में समकालीन कलाओं को उसकी पूरी गंभीरता के साथ अशोक वाजपेयी ने अभिव्यक्ति दी। इस दृष्टि से हिन्दी कविता में समकालीन कलाओं का इतिहास उन्होंने दर्ज किया। कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मसूर, एम.एफ. हुसैन आदि पर लिखी कविताओं को हिन्दी कविता के इतिहास की वस्तु भी माना जा सकता है। हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी ने अपने समय को सीधे तौर पर परिभाषित करने वाली कविता कम ही लिखी हैं। अशोक वाजपेयी ने हासिये पर पहुँच गये मानवीय रिश्तों संबंधों से बेपरवाह हो गये समाज में फिर से जीवन के विविध पक्षों को जरूरी माना है। आधुनिक हिन्दी कविता में खासकर साठोत्तरी हिन्दी कविता से शुरू हुई अशोक वाजपेयी की कविता यात्रा में उसके समकालीन समय की भयावहता और उसकी संवेदनात्मक सच्चाई सिरे से गायब है। हिन्दी कविता से देश और समाज जिस तरह की अपेक्षा करता है उसे अशोक वाजपेयी ने अपने लेखन से लगातार खारिज किया। उनके लगभग सभी काव्य संग्रह अपने समय की राजनैतिक बैचेनी से अलगाव रखते हैं। शताब्दी के अंत की कगार पर लिखी अशोक वाजपेयी की लम्बी कविता ने पहली बार अपने समय की संवेदना को उसकी व्यापकता में अभिव्यक्त किया। इस लम्बी कविता में भी अशोक वाजपेयी भाषा के अभिजात्य से मुक्त नहीं हो पाये हैं। हिन्दी में लम्बी कविताओं के इतिहास में अशोक वाजपेयी के हाथ से सदी का सच अपनी तीव्रता में आते-आते रह

गया जो मुक्तिबोध के यहां 'अंधेरे में' अपनी पूरी भयावहता से दर्ज हुआ था। अशोक वाजपेयी ने शताब्दी के अंत की कगार पर कविता में अपनी भाषायी जमीन नहीं छोड़ी। बीसवीं सदी के खतरनाक सच से यह लम्बी कविता अपने शीर्षक की विषय वस्तु से वह रिश्ता नहीं बना पाती जैसा शीर्षक से उम्मीद बंधती है। अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता के उस वर्ग में शामिल हो गये जिस वर्ग में निराला, प्रसाद, अज्ञेय, मुक्ति बोध की लम्बी कविताएँ आती हैं। निराला की राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास, प्रसाद की आंसू, कामायनी, अज्ञेय असाध्य वीणा और मुक्तिबोध की ब्रह्मराक्षस और अंधेरे में। यह हिन्दी कविता की कविता मनुष्य द्वारा बनाये गये जनतंत्र का मानवीय विस्तार करती है। साहित्य में जो जीवन रचा जाता है, वह वास्तविक जीवन जैसा ही संवेदनशील होता है। मनुष्य ने जिस जीवन और सभ्यता का निर्माण और विस्तार किया है उसे साहित्य सहेजने का काम करता है। साहित्य की अन्य विधाओं के बावजूद कविता आज भी मनुष्य से मनुष्य बने रहने की अपेक्षा संवेदनशीलता से करती है, उसे पूरा आकाश देती है। कविता सिर्फ शब्दों से नहीं बनती, कविता शब्दों में मनुष्य और उसकी दुनिया के बीच एक विस्तृत आत्मीय रिश्ता बनाती है। शब्दों में कविता मनुष्य और उसकी दुनिया के बीच संवाद और सघनता के साथ संबंधों का इतिहास रचती है। कविता की आयु मनुष्य की आयु से अधिक होती है, इसलिए कविता को हक है कि वह मनुष्य के जीवन उसके द्वारा निर्मित दुनिया पर सवाल उठाये और कभी-कभी हाँफती सभ्यता को रास्ता भी दिखाये।अशोक वाजपेयी के शब्दों में "कविता अपने घर में होने का अचरज है।" कविता के घर में मनुष्य का आश्चर्य ठीक वैसा ही है, जैसे समाज में मानवीयता।

बीसवीं शताब्दी मनुष्य की बर्बरता के बावजूद विश्व स्तर पर मनुष्य की स्वतंत्रता और उसके जनतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति की सदी थी। दो विश्व युद्धों के भीषण नरसंहार के बाद भी मनुष्य को जो थोड़ी सी जनतांत्रिक गरिमा मिली है वह इसी बीसवीं सदी में मिली, बीसवीं सदी के नरसंहार और राजनैतिक बर्बरता को कविता ने उसके मानवीय पक्ष के साथ सदी की सच्चाई व्यक्त की थी। कविता भाषा में मनुष्य का सच और उसके सपने को एक उम्मीद की तरह रचती है। जो उम्मीद हम कविता से करते हैं वही उम्मीद कविता काल के आर-पार मनुष्य से करती है। कविता और मनुष्य दोनों कभी-कभी अपनी जनतांत्रिक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। कब, जब कविता उपदेशात्मक या फतवेबाजी से मानव सभ्यता को नियंत्रित करने का प्रयत्न करने लगती है और

मनुष्य जब साहित्य को केवल इतिहास बनाने पर तुल जाता है। साहित्य और कलाएँ मनुष्य की वास्तविक जनतांत्रिकता का विस्तार तथा समाज को सहज और संवदेनशील बनाती हैं। अशोक वाजपेयी की कविता महान् सत्यों व उनके वैभव से अलग मनुष्य की छोटी-छोटी सच्चाइयों के लिए जगह बनाती, तलाशती सहेजती कविता है। जनतंत्र समाज और सभ्यता की कतार में राजनैतिक सामाजिक वैभव से दूर सबसे पिछली पंक्ति में खड़े मनुष्य को उसकी गरिमा लौटाता है, उसे मनुष्य होने और माने जाने का अधिकार देता है।

अशोक वाजपेयी की कविताएँ बीसवी सदीं के महान् सत्यों की चकाचौंध में मनुष्य को उसके समाज, परिवार, रिश्तों की छोटी-छोटी स्मृतियों को फिर से ताजा करती हैं। यही कविता का जनतंत्र है। जिसमें जीवन की सच्चाइयों को कविता फिर हमारे सामने प्रकट करती है। कविता का समाज कवि का कोई काल्पनिक समाज नहीं है, यहाँ कविता का समाज, शब्दों और भाषा के साथ वास्तविक समाज के रूप में दर्ज किया गया है। समय के साथ हम लगातार अनदेखा करते हुए किसी तानाशाह राजनेता की तरह आगे बढ़ते जा रहे हैं। जीवन, उसके रिश्तों, लोगों और वस्तुओं को विस्मृत करते जा रहे हैं। ये कविताएँ उस बीते हुए उपेक्षित जीवन को फिर से केन्द्रीय बनाती हैं। यहाँ यह सवाल लाजिमी है कि आजाद भारत की राजनैतिक, साम्प्रदायिक उथल-पुथल और आंदोलन अशोक वाजपेयी के काव्य संसार से बाहर हैं। क्यों? इसका ठीक-ठीक जबाव कविता ही देती है। हिन्दी कविता के खासकर आधुनिक हिन्दी कविता के आन्दोलनों में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नयी कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता, सामाजिक आंदोलन का नेतृत्व करने वाले कविता युग अधिक रहे हैं। हिन्दी कविता अपने प्रत्येक आन्दोलन में भाषा में अपने पूर्ण आवेग और अभिव्यक्ति के साथ समाज में सामाजिक, आर्थिक के साथ राजनैतिक जनतंत्र की स्थापना की प्रबल पक्षधर रही है। निराला, नागार्जुन त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, अज्ञेय, मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार त्यागी की काव्य चेतना और काम-अभिव्यक्ति भारतीय समाज में जनतंत्र की स्थापना, व्याख्या और विस्तार की रही है, समकालीन कविता आन्दोलन का सच समय के दबावों में लगातार छूटती जा रहे मनुष्य और उसकी स्मृतियों, रिश्तों, को उसकी वस्तुओं के साथ शब्दों में भाषा में पुनर्नवा करने का है। यहाँ कविता ने अपने को राजनैतिक शब्दावली से मुक्त कर अपने समय के मनुष्य तथा उसके निजी संसार से एक गहरा और मानवीय रिश्ता बनाया है, जो बीसवीं सदी

के उत्तरार्द्ध में कविता में मनुष्य और उसके संबंधों की वापसी का विनम्र आग्रह भी है। हिन्दी कविता में अपने पूर्व कविता-युगों-आन्दोलनों से भिन्न समकालीन कविता में अपने विशिष्ट काव्य-विषयों और मानवीयताओं से रचा बसा अशोक वाजपेयी की कविता का जनतंत्र है। जिसमें मुहल्ले, पड़ोस, रिश्तों, लोगों से भरा पूरा कविता का समाज है, जिसे आजादी के बाद हमने खो दिया है, हमसे छूट गया है।

'शहर अब भी संभावना है' कविता संग्रह से शुरू अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा अब भी जारी है। अपनी कविताओं पर उन्होंने बेवाकी से कहा है कि "मुझे देहवादी, रीतिपरक और रति-आक्रान्त कवि कहा गया है। अव्वल तो मैंने जितना प्रेम पर लिखा है, लगभग उतना ही मृत्यु और अनुपस्थिति पर भी। जितना हर्ष उल्लास पर उतना ही विषाद और उदासी पर भी। दूसरे, मुझे लगता है कि भारत में श्रृंगार की भी एक अटूट परम्परा है, जो हमारी छद्‌म और पश्चिम से आक्रान्त आधुनिकता नजरअंदाज करती रही है। मैंने कुछ सजगता के साथ इस उत्तराधिकार को सहज स्वीकार करते हुए रति और श्रृंगार को एक प्रतिषेध के रूप में, पुनराविष्कृत करने की यत्किंचित् चेष्टा की है। आज जब आधुनिक भारतीय पर, उसके ऐन्द्रिय-बोध पर उसकी अन्तरंग और निजी सच्चाइयों पर लगातार हमला हो रहा है। कविता की ऐन्द्रिकता भरी-पूरी बेहिचक आदमियत का एक जरूरी इजहार है।"[1] स्वतंत्रता के लम्बे संघर्ष के बाद आजादी तो मिल गयी पर उस आजादी को हम संभाल नहीं पाये। भूमण्डलीकरण और संचार क्रांति के रूप में दबे पाँव आए पूँजीवाद ने शीघ्र ही प्रगति के बहाने एक नयी गलाकाट प्रतिस्पर्धा को भारतीय समाज व्यवस्था में स्थापित कर दिया। पूँजीवाद की इस बेरहम दौड़ ने सदियों से चले आ रहे सामाजिक मूल्यों और मनुष्यता को सिरे से खारिज कर दिया। आजाद भारत को संविधान ने जिस समता, बंधुता, न्याय, समाजवाद के रूप में जनतंत्र की स्थापना का सपना दिखाया था, वह उन्नीस सौ सत्तर यानी आजादी के पहले दो दशक में ही टूट गया। भारतीय समाज की सबसे मजबूत इकाई संयुक्त परिवार था, जिसे पूँजीवाद ने बिखेर दिया। राजनीति और अर्थशास्त्र, समाज और उसकी संस्थाओं को गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। भारत 1947 में एक स्वतंत्र राजनैतिक राज्य बना। इस राज्य को संचालित करने वाली संस्थाओं ने अनेक स्तर पर इस गणराज्य को संरक्षित कर विश्व में इसकी एक जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में छवि स्थापित की। देश के खराब आर्थिक हालात और सम्पूर्ण देश में बुनियादी सुविधाओं के अभाव की

पूर्ति करने के संघर्ष में विकास की राह चलते-चलते हम कब पूँजीवादी हो गये, पता ही नहीं चला। इस विकास के रास्ते आये पूँजीवाद ने हमारे जीवन के पारिवारिक-सामाजिक मूल्य हमसे छीन लिए। अशोक वाजपेयी की कविता का जनतंत्र इन मूल्यों और मान्यताओं की वापसी का आग्रह करता है। 'शहर अब भी संभावना है' कविता संग्रह में "अपनी आसन्नप्रसवा माँ के लिए तीन गीत" आधुनिक हिन्दी कविता में माँ पर लिखी अब तक की कविताओं में श्रेष्ठ माने गये हैं। जीवन जिस परिवार से शुरू होता है उसकी स्मृतियाँ भी अब आधुनिक जीवन से छूट रही हैं। उन्हीं स्मृतियों में कविता हमें वापस ले जाने की कोशिश करती है। समाज जहाँ पहुँच गया है वहीं कवि भी, पर कवि जीवन में भले ही न लौट पाये, पर अपनी कविता में वह वापस लौटना चाहता है, उन लोगों और रिश्तों के धड़कते संसार में, जहाँ से वह चला था -

माँ,
लौटकर जब आऊँगा
क्या लाऊँगा?[2]

एक कवि का जनतंत्र उसके शब्दों, भाषा, संवेदना के साथ कविता का जनतंत्र तब बनता है, जब कविता वास्तविक राजनैतिक जनतंत्र की प्रवक्ता होने से बचकर समाज और उसके रिश्तों की समीक्षा करती है। मनुष्य को जीवन के लिए जितने अवसर और साधन कविता देती है, अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। यहाँ "बसंत के लिए कामना" है। कविता में आधुनिक नगरीय सभ्यता के चित्र में हमारी बसंत की महक कहीं छूट गयी है -

उत्सव की लपटों में
मेरा नगर जल रहा है,
मेरे मित्रों की आँखें सूखकर
चट्टानों के काले टुकड़े बनती जा रही हैं-
और एक छूँछा आकाश मेरे सिर पर लदता जा रहा है।[3]

नगरीय जीवन की चमक और चकाचौंध पश्चिमी सभ्यता के रूप में जिस तरह हमारे प्राकृतिक बसंत और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संबंध से हमें बेदखल किए जा रही है? इसका यहाँ गहरा एहसास है कि यह कवि दृष्टि है और कविता का पक्ष भी। अशोक वाजपेयी अपनी कविता के द्वारा समाज में भारतीयता की पहचान भी करते हैं। और उसकी स्थापना भी। "तुलसी ने

सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना सपना रचा था।"[4] अशोक वाजपेयी ने भी अपने काव्य-संसार में भारतीय साहित्यिक जनतंत्र का काव्यात्मक सपना कविता के सच के साथ रचा है, जिसमें वह वापस आना चाहते हैं। 'शहर अब भी संभावना है' संग्रह से ही कविता में माँ/सूर्यास्त/उषाओं के गर्भ में/पहला चुम्बन/जब हम प्यार करते हैं/सुबह/साँझ प्यार करने के लिए/कहाँ होती है दुनिया/'खुल गया है एक द्वार', शीर्षक कविताओं में साठोत्तरी हिन्दी कविता से उसकी राजनैतिक भाषा और कार्यवाही से अलग जीवन और उसके होने-बीतने की दुनिया विस्तार पाती है। साहित्य तथा अन्य कलाओं के बीच भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक गहरा और जरुरी रिश्ता रहा है। एक हजार वर्षों की राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमणों और आयातित संस्कृतियों का प्रभाव साहित्य और कलाओं के बीच के संबंध पर भी पड़ा। अंग्रेजों के शासन में साहित्य और कलाओं को संरक्षण ऐतिहासिक धरोहरों के नाम पर मिला। पर अंग्रेजों की नीतियों ने साहित्य और कलाओं की साझा अभिव्यक्ति के नाम पर बाँटने की नीति को ही लागू किया। अंग्रेज भारत की हिन्दू-मुस्लिम एकता और घुली-मिली संस्कृति को विभाजित करके ही यहाँ आपसी असंतोष उत्पन्न कर अपने अधिकार में भारत को रख सकते थे। जो कि उन्होंने लगातार किया भी, भौगौलिक रुप से ही नहीं सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर भी अंग्रेजों के द्वारा किया गया विभाजन तीसरे परमाणु विश्व युद्ध का कारण बन सकता है। ज्ञात हो कि जैसे बँटवारा पहले कागज पर होता है, फिर जमीन पर और हमेशा रिसता रहता है घाव बनकर, राष्ट्र की आत्मा पर विभाजन की यह लकीर साहित्य और कलाओं से प्रारम्भ होकर जमीनी हकीकत बन गई, एक खतरनाक रेखा। धर्म, मजहब और सम्प्रदाय के नाम पर जो हिंसा हुई थी 1947 में, उसके चिह्न जब-तब अब भी नजर आ जाते हैं। मजहब के नाम पर बँटवारा हुआ, नया राष्ट्र बना। विभाजन की त्रासदी को पाटते हुए आधुनिक हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी ने समकालीन कलाओं को भी प्रमुखता से जगह दी। उन्हें हिन्दी कविता में अभिव्यक्त किया। अपने समकालीन विश्वप्रसिद्ध चित्रकार एम. एफ. हुसैन के बनाये एक चित्र की स्मृति हिन्दी कविता में आँखे खोलती है।

'उजाले की दो गहरी लाल आँखें
मुड़ गईं उस सड़क पर
जो मेरे घर के अँधेरे के पास से
गुजरती है ..... ।'[5]

यहाँ मकबूल फिदा हुसैन के चित्रों के रंग अपनी नयी अभिव्यक्ति पाते हैं। कविता में चित्र, चित्रकला की भाषा और दुनिया को नयी अभिव्यक्ति मिली है। जो चित्र के साथ उनके रंगों के संयोजन और निहित कथ्य को रचनात्मक विस्तार देती है। कविता भाषा में, शब्दों में दूसरी कलाओं को रचने-सहेजने और अभिव्यक्त करने को जरूरी विस्तार देती है। अपने समकालीन संगीत की शास्त्रीयता कविता में ध्वनियों के साथ शब्दों में एक नये अर्थ में सृजित होती है, अभिव्यक्ति पाती है। अली अकबर खाँ के सरोद के स्वर अशोक वाजपेयी के पहले कविता संग्रह से ही हिन्दी कविता में सुनाई दिये।

खिड़की से एक पीला गुलाब रह रहकर टकराता रहा।
वहीं वह झुकी खड़ी रोती रही
मैं सुनता रहा .....
कोई अपनी उँगलियों से
काँपता-काला आकाश
मेरी ओर खींचता रहा
खींचता रहा ..... /[6]

'तिनका-तिनका' कविता संग्रह की भूमिका में अपने काव्य-संसार पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है कि "मैं अपने लेखन के आरम्भ से सिर्फ कविता लिखने तक महदूद न रहकर अपने समय और समाज में उसके लिए जगह बनाने की कोशिश में लगा रहा हूँ। इस चेष्टा ने बाद में विस्तार पाकर कविता के अलावा अन्य कलाओं को भी समेटा।"[7] 1941 में जन्मे अशोक वाजपेयी ने अब तक साहित्य और कलाओं के एक हजार से अधिक आयोजन करने में तथा उनके संचालन-संवर्धन में उनकी प्रमुख भूमिका रही है। साहित्य और कलाएँ हमारे देश में एक बड़ी कालावधि में राजनैतिक शक्तियों के संरक्षण में ही पल्लवित-पुष्पित और विकसित होती रही हैं। राजनैतिक परिस्थितियाँ बदलते ही साहित्य और कलाओं की स्थिति, संरक्षण और विकास पर असर होना स्वाभाविक था। गुप्तकाल, मौर्यकाल, चन्देलकाल, बुन्देला युग, राजपुताना युग, मुगल युग तक के राजनैतिक शासकों की कला, संगीत, साहित्य के प्रमाण आज भी उस युग के वैभव को कलाओं के रूप में हमें गहरे स्तर पर प्रभावित और आकर्षित करते हैं। अंग्रेज़ शासन काल में भारतीय साहित्य और कलाओं की स्थिति अवरुद्ध रही। आजादी के बाद सब कुछ नया-नया-सा था। बँटवारे की

दीवार और साम्प्रदायिकता के भयावह संघर्ष ने साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, सिनेमा सभी को गहरे स्तर पर प्रभावित और विचलित किया। राजनैतिक रूप से देश एक हो गया और सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से खण्ड-खण्ड। ऐसे में हिन्दी कविता ने लगातार विभाजन के दर्द, उसकी साम्प्रदायिकता को अपने कैनवास में चित्रित किया। 1965 में भारत-चीन युद्ध में नेहरू के राजनैतिक समाजवाद की वास्तविकता सामने आ गयी। आजादी का सपना टूट गया। साहित्य ने अपनी मुखरता के साथ नेहरू युग पर सवाल उठाये। कविता ने अपना धैर्य खो दिया। कविता राजनैतिक भाषा में सामाजिक भूमिका की अग्रगामी बन गयी। कलाएँ, संगीत और कविता का जो संबंध है, जाहिर है, ऐसे में संभव नहीं। इसी असंभव को अशोक वाजपेयी ने अपने काव्य-संसार और वास्तविक जीवन की प्रतिबद्धता से संभव बनाया।

समकालीन हिन्दी कविता में चिड़िया, ईश्वर, अनंत, पृथ्वी, प्रेम के लिए लगातार जगह खोजती कविता यहाँ प्रेम के रूपक में शब्द स्पर्श की अनुभूति बन जाते हैं। प्रेम में, प्रतीक्षा में अंततः यह सारी पृथ्वी प्रेम के लिए, कविता के लिए, शब्दों में प्रकृति के स्पंदन को लिखने-सुनने के लिए 'थोड़ी सी जगह' है। अशोक वाजपेयी के कवि स्वभाव में साठोत्तरी कविता के कोलाहल के बीच हिन्दी में यही कविता की वापसी है, जिसे प्रारम्भ में सभी ने नज़र-अंदाज किया, पर अब समकालीन कविता एक आंदोलन के रूप में एक कविता युग के रूप में अपनी पहचान पुख्ता कर चुकी है, ऐसे में अब किसी को भी यह गुरेज नहीं कि कविता राजनैतिक शब्दावली से अलग मनुष्य के आंतरिक क्षितिज का विस्तार करती है। कविता नारा या पोस्टर नहीं है, कविता मनुष्य को और ज्यादा संवेदनशील मनुष्य बनाने का उपक्रम भर है। कविता अपनी मानवीय परिधि के विस्तृत धरातल पर जब प्रेम के लिए अपने पंख फैलाती है, तो यह पृथ्वी प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह ही दिखाई देती है।

आकाशगंगाओं के तुमुल के बीच
थोड़ी सी जगह -
अंतिम शब्द और
मौन के बीच -
उस अस्फुट गान में
अनन्त को पड़ोस में
वहीं मैं तुम्हें प्यार करूँगा।[8]

भारतीय स्थापत्य कला की विश्वस्तरीय धरोहर 'खजुराहो' के आज से एक हजार वर्ष पहले निर्मित मंदिर, अपने जीवंत मानवीय रूप में कविता में बोलने लगते हैं। खजुराहो के मंदिरों की बाहृय दीवारों पर अंकित पत्थर की मूर्तियों और उनकी भाव-भंगिमाओं को, हिन्दी की आधुनिक कविता में अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में देखा जा सकता है। चित्रकला, संगीत, स्थापत्य-कला, को उनके पूरे मानवीय सरोकारों के साथ कविता में नये रूप में रचा गया है।

पत्थर चूमता है
पत्थर को
पत्थर को बाँहों में भींचता है
पत्थर
पत्थर करता है मर्दन
पत्थर का
पत्थर से केलि करता है पत्थर।[9]

आधुनिक भाषा और आधुनिक कविता से जिस तरह की उम्मीद की जाती है, अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में इतिहास की स्थापत्य-कला की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ कविता में कलाओं के जनतंत्र को जिम्मेदारी से रचा गया है। कलाओं के साथ सदियों पुराने मानव-इतिहास के स्थापत्य को भी यहाँ कविता में उसकी पूरी अंतरंगता के साथ शामिल किया गया है। हिन्दी कविता का यह नया विस्तार है। जहाँ पत्थरों की बारीक सिलवटें और भाव शब्दों में खुलने-सुलगने लगते हैं। पत्थर जीवित हो उठते हैं।

समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक यथार्थ का जिस तरह चित्रण हुआ है, उस पर अशोक वाजपेयी ने अपनी प्रेम कविताओं के संग्रह की भूमिका में लिखा है कि ''व्यापक जीवन में तो नहीं पर, इधर की हिन्दी कविता में प्रेम के लिए थोड़ी-सी जगह ही बच पायी है। हमारी कविता में तथाकथित सामाजिक सच्चाई का ऐसा आतंक है कि निजी अंतरंग अनुभव भी उसी हद तक कोना-अँतरा पाते हैं, जिस हद तक वे उस सच्चाई के हिस्से बनकर प्रगट हो सकें। प्रेम जीवन और भाषा दोनों में ही अपना समय और अनंत अलग रचता आया है, सदियों वह स्थायी कवि समय रहा है। जिसने जीवन में प्रेम न किया हो, वह मनुष्य क्या और जिसने कविता में प्रेम न किया हो, वह कवि क्या?[10] ''प्रेम के लिए हिन्दी कविता में जब जगह ही नहीं बची थी, तभी अशोक वाजपेयी ने प्रेम और

जीवन के अंतरंग पक्षों पर प्रेम और प्रणय के आग्रह से भरी कविताएँ रचकर कविता में प्रेम के लिए जरूरी जगह बनायी। उनकी प्रेम कविताओं में प्रेम के रूपक/थोड़ी सी जगह/पूरी की पूरी पृथ्वी/प्रतीक्षा में प्रेम/वहीं है बसंत आदि कविताएँ प्रेम की, प्रणय की, हिन्दी कविता में रीतिकाल से भिन्न अपने आधुनिक मानवीय सौन्दर्यबोध को स्थापित भी करती हैं और समाज बोध के आधिक्य के बरक्स हिन्दी कविता में प्रेम और आसक्ति को एक जरूरी जमीन भी देती हैं -

तुम जहाँ कहो
वहाँ चले जाएँगे
दूसरे मकान में
अँधेरे भविष्य में
न कहीं पहुँचने वाली ट्रेन में
जहाँ तुम कभी खुद नहीं आना चाहोगे
वहाँ तुम कहो तो
चले जाएँगे ..... ।[11]

जीवन और उसकी गहरी आसक्ति अशोक वाजपेयी की कविता के जनतंत्र में अभिव्यक्त हुई है। साठोत्तरी हिन्दी कविता में जो असफलता, निराशा और हताशा केन्द्रीय हो उठी थी, कविता में जीवन और मृत्यु के साथ इसी अच्छी-बुरी दुनिया में कविता के, शब्दों के भरोसे कवि वापस आना चाहता है। जीवन के साथ मृत्यु को अपनी कविताओं में जैसे अशोक वाजपेयी ने अभिव्यक्ति दी है और इसी दुनिया में लौटने की जिद की है। हिन्दी कविता में और किसी ने जीवन में, कविता में मृत्यु को, अंत को इस तरह अपनत्व से नहीं देखा। यहाँ मृत्यु की भयावहता और डर सिरे से गायब है, यहाँ जीवन के उत्सव में मृत्यु के चेहरे पर उदासी की लकीरें साफ़ दिखाई देती हैं -

कोई नहीं देख पायगा
हमारा न होना
जैसे प्रार्थना में डूबी भीड़ से
लोप हो गये बच्चों को
कोई नहीं देख पाता ।[12]

कविता के शब्दों में भाषा में और अपने समय के अनहद गायक कुमार गंधर्व की मृत्यु का विराट वर्णन मृत्यु पर अब तक की कविता यात्रा में समूची

हिन्दी कविता में लिखा गया पहला शोकगीत है। ''बहुरि अकेला'' शीर्षक संग्रह से रचे इस शोकगीत में मृत्यु और जीवन के बीच के खालीपन में लोग हैं, उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं में बीतता हमारा समय है और समय में विदा हो गये कुमार गंधर्व के जीवन का संघर्ष है, जिसे कविता में, शब्दों में अपनी गहरी सघन अनुभूतियों, के धरातल पर उतारा गया है। साहित्य, कविता और कलाएँ, संगीत और उनके रचनाकार सब बीसवीं शताब्दी में समाहित हो गये हैं।

झरती हुई पत्ती जानती है कि वह मरने जा रही है?
सरलीकृत समय में कठिन शब्द जानता है कि
एक दुर्बोध कविता में उसका जाना उसका अंत है?
राग के खण्डहर में भटक गया सुर पहचान पाता है
कि वह उसका लोप है?
जो नहीं है उसके कई नाम हैं
लोप अनुपस्थिति अंत समापन मृत्यु अवसान
पर सभी उसके होने को याद करते हुए
कोई भी नहीं जो उसके न होने को व्यक्त करे।[13]

यहाँ कविता से जितनी उम्मीद की जाती है, किसी और से नहीं। हिन्दी कविता में कुमार गंधर्व की आवाज उनके फेफड़ों से उठकर उनकी मृत्यु के बाद यहाँ लगातार गूँजती है, जिसे शब्दों में उनके राग के साथ महसूस किया जा सकता है। कविता में यह महाकाव्यात्मकता की चुनौती है, जिसे कवि ने हिन्दी में संभव बनाया है। कवि के श्रम और उसकी बैचेनी को यहाँ उसके शब्दों में, भाषा में, संवेदना में किसी राग के स्वर की तरह रह-रहकर विदा होते कुमार गंधर्व को सुना जा सकता है। प्रकृति, लोग, पड़ोस, देवता, शून्य, दिगन्त के अनेक द्वार खोलतीं ये कविताएँ समकालीन कला और संगीत के लिए हिन्दी कविता में नयी जगह बनाती हैं, जो पहले नहीं थी।

आधुनिक हिन्दी कविता में यह कविता और भाषा का नया जनतंत्र है, जिसमें समकालीन कलाएँ कविता की विषय-वस्तु बन जाती हैं। मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी कविताएँ सिर्फ शब्दों का विन्यास भर नहीं हैं। यहाँ ईश्वर और उनमें कोई फर्क करना कविता में संभव नहीं रहता -

वे मल्लिकार्जुन मंसूर हैं
वे धीर समय हैं

अविचल काल हैं
निश्छल हँसी हैं .... ।[14]

समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी का काव्य-संसार समकालीन जीवन में अलक्षित हो चुके जीवन और उसकी निजी स्मृतियों की दुनिया में वापसी का संसार है। यहाँ देवता हैं, पुरखे हैं, परिवार है, पड़ोस है और उनके नये अर्थ और स्मृतियों को खोलती भाषा है। बीसवीं सदी में अकेले हो गये एक संवेदनशील कवि की बैचेनी का युगबोध है। अपने समय का खामोश सामाजिक तनाव है, जो जीवन में अपने न होने को शब्दों में भरने का उपक्रम बन गया है। यहाँ कविता बीसवीं सदी में छूट रहे, टूट रहे रिश्तों के खालीपन में जीवन की जरुरी समीक्षा है। साहित्य में समकालीन जीवन के साथ समकालीन कलाओं का गहरा संबंध है। मनुष्य से उसकी मनुष्यता छीन रही शक्तियों का साहित्य के साथ कलाएँ भी प्रतिरोध करती है, कलाओं का यही प्रतिरोध समकालीन कविता में यहाँ गहरी अर्थमयता के साथ दर्ज किया गया है। इसी अर्थ में अशोक वाजपेयी कविता का जनतंत्र रचते हैं। समकालीन कविता में जीवन की स्मृतियों के साथ समकालीन कलाओं को भी यहाँ शामिल किया गया है। कविता के कलाओं से संबंध पर अपने काव्य संग्रह 'उजाला एक मंदिर बनाता है' की भूमिका में उन्होंने कहा है कि ''शुरू से ही मुझे लगता रहा है कि कलाओं में जो जीवन प्रगट विन्यस्त होता है। वह उतना ही सार्थक, स्पन्दित और समृद्धिकारी है, जितना सीधा जीवन। बल्कि कलाओं में जीवन अधिक संपुंजित और सघन होता है। मुझे यह भी लगता है कि मनुष्य ने जो अनन्त अपने लिए गढ़ा है, उसका बड़ा हिस्सा कलाओं का है इसलिए मुझे अपनी कविता का एक काम इस रचे हुए जीवन और गढ़े गये अनन्त को सहेजने का लगता रहा है।''[15] अशोक वाजपेयी की कविताओं में शताब्दी के अंत के कगार पर कवि के साथ कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी, कुँजड़ा भी है, वहीं सैयद हैदर रज़ा, एम.एफ. हुसैन के चित्रों के रंगों के साथ मल्लिकार्जुन मंसूर, अली अकबर खाँ और कुमार गंधर्व के सुर भी हैं। खजुराहो के बोलते पत्थर भी हिन्दी कविता को यहाँ समृद्ध करते हैं। अशोक वाजपेयी की कविताएँ मनुष्य का आंतरिक विस्तार करती हैं। समय की चकाचौंध में लगातार जीवन जैसे हाथ से छूटता जा रहा है। यहाँ कविता जीवन की कोई नयी व्यवस्था नहीं बनाती, बल्कि जीवन में उसकी स्मृतियों को वापस लौटाने सहजने का जतन करती है। मनुष्य से लगातार मनुष्य बने रहने की जिद और उम्मीद यहाँ है। कविता यहाँ भाषा में, शब्दों में, जीवन का,

मनुष्यता का सपना दिखाती है, वह सपना जो लगातार टूटता जा रहा है। यहाँ कविता परिवार के साथ देवताओं और पुरखों को पुनः विन्यस्त करती है और इसी अच्छी-बुरी दुनिया में प्रेम के लिए थोड़ी-सी जगह बनाती है। अंत के बाद इसी दुनिया में फिर लौटने का सपना दिखाती है। यहाँ कविता समय से बाहर हो गये जीवन की पहचान कराती है। उसे हाशिए से केन्द्र में स्थापित करने का आग्रह करती है। समकालीन मनुष्य की सामाजिक सच्चाई के अंतःकरण में प्रवेश करती यह कविता समकालीन समाज की उस मानवीयता को लक्ष्य करती है, जो तथाकथित सामाजिक सच्चाई की कविता में अलक्षित दिखायी देती है।

लम्बी कविताओं के इतिहास में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' हिन्दी कविता से इतिहास की धरोहर मानी जाती हैं। इस कविता में निराला के जीवन संघर्ष की भयावहता को राम के जीवन संघर्ष में दर्शाया गया है। वहां 'निराला' भी अपने समय का सम्पूर्ण संघर्ष व्यक्तित्व के साथ युगीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक संघर्ष को भी राम की शक्तिपूजा कविता में व्यक्त करते हैं। अपने पूर्व सृजित सभी रामों में निराला के राम ज्यादा आम आदमी जैसे हैं। चमत्कारिक राम निराला नहीं रच पाये। लम्बी कविताओं के केनवास में राम की शक्ति पूजा अपने तरह की पहली कविता है। सच तो यह है कि इसी कविता से आधुनिक हिन्दी कविता में लम्बी कविता के इतिहास का प्रारम्भ होता है। निराला के बाद अज्ञेय ने लम्बी कविता के इतिहास में 'असाध्य वीणा' लिखकर एक नयी कड़ी जोड़ी। अपने दार्शनिक कथ्य में असाध्य वीणा आधुनिक हिन्दी की श्रेष्ठतम लम्बी कविताओं में मानी जाती है। सीधा समय हिन्दी की जिन लम्बी कविताओं में अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक परिवेश की पड़ताल करता है, उन कविताओं को महत्वपूर्ण माना गया है। इस अर्थ में अभी तक आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में 'राम की शक्ति पूजा' असाध्य वीणा और गजानन माधव मुक्ति बोध की 'अंधेरे में' सबसे महत्वपूर्ण कविता मानी गयी है। असाध्य वीणा और राम की शक्ति पूजा कविता में प्राचीन कथाओं का आधार लेकर कवि ने अपनी युगीन चेतना को अभिव्यक्त किया है। इससे भिन्न मुक्ति बोध ने अपनी लम्बी कविता 'अंधेरे में' में हिन्दी को एक नये फारमेट में फैंटेसी शैली में अपने समय की बृहत् सामाजिक राजनैतिक पड़ताल की है।

बीसवीं शताब्दी की भयानक बैचेनी हिन्दी में अपने आदिम रूप में मुक्तिबोध के यहां अंधेरे में है। आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में बीसवीं सदी के मनुष्य के साथ, उसके आस-पास कितना भयानक और खतरनाक समय पसरा

है जो उसे निगल जाने के लिए 'अंधेरे में' कविता के केन्द्र में है। यह कविता अपने समय के जिस सच को फैंटेसी शैली में हमारे सामने रखती है, वह सच खतरनाक है आजादी के बाद भारत की वास्तविकता जैसी मुक्तिबोध ने देखी वैसी सम्पूर्ण भारतीय कविता में नहीं है। भारतीयों के हाथों में भारत को कैसे चलाया जा रहा है, और आमजन यदि सवाल पूछ बैठे तो उसकी क्या दशा होगी यह जिस साहस के साथ मुक्तिबोध ने व्यक्त किया वह अन्यत्र नहीं। दुश्मन से सीमा की रक्षा करने वाले सिपाही से ज्यादा साहस चाहिए उन लोगों को बेनकाब करने के लिए जिन्होंने भारतीय जनतंत्र पर अंग्रेजों से ज्यादा खतरनाक कब्जा कर लिया है। दिन में सब अपना-अपना काम करते हैं और रात में साहित्यकार, पत्रकार, नेता, न्यायाधीश, जनप्रतिनिधि और हत्यारे सब एक साथ बैठकर समाज और देश को तरह-तरह से लूटने की साजिश करते हैं। लेखक ने इस सबको देखा है। जो भी इन्हें देख लेता है सब मिलकर उसे समाप्त कर देते हैं। आजाद भारत में यदि किसी ने सवाल उठाया कि रात्रि में जो प्रोसेशन निकल रहा है उसमें शहर का हत्यारा डोमा जी भी है, पत्रकार, साहित्यकार भी है बड़े-बड़े अधिकारी जनप्रतिनिधि भी हैं। सवाल यहां यह है कि हम अंग्रेजों से सवाल पूछ सकते थे उनका विरोध कर सकते थे वे इतने क्रूर और खतरनाक नहीं थे जितने ये लोग हैं, इनको देख लेने वाले का पता चलते ही ये सब मिलकर ऐसे लोगों की खतरनाक वैचारिक के साथ-साथ दैहिक हत्या भी कर देते हैं। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता के संबंध में शमशेर बहादुर सिंह ने कहा था कि यह कविता आजादी के बाद के भारत पर लिखी ऐसी कविता है जो दहकता इस्पाती दस्तावेज है। बीसवीं सदी किसकी सदी है? भारत के राजनैतिक गणराज्य बनने की, अंग्रेजी उपनिवेशवाद से स्वाधीन होने की भारत का विभाजन के बाद ही सही एक सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र बनने की या भारत में जनतंत्र की स्थापना की सदी है। बीसवीं सदी हिन्दी भाषा के उत्थान और उसके स्वतंत्र विकसित होने की भी सदी है। हम बाजारवाद की चकाचौंध में यह भूल ही गये हैं कि हिन्दी बाजार से शुरू होकर भारतीय जनतंत्र की जुबान बन गयी है। हिन्दी किसी धर्म सम्प्रदाय की भाषा होने से बच गयी। हिन्दी स्वाधीनता आंदोलन की प्रतिनिधि जनभाषा के बाद भारतीय जनतंत्र की प्रमुख भाषा भी बन गयी। एक सौ वर्ष में विश्व में किसी भाषा में इतना बृहत् विस्तार नहीं पाया। खड़ी बोली हिन्दी भारत की प्रतिनिधि भाषा बन चुकी है। तमाम प्रकार

की जिम्मेदारियां हिन्दी निभाने में कामयाब हुई है, सरकारी कामकाज, शिक्षा बाजार, रेडियो, दूरदर्शन, टेलीविजन, समाचार पत्र, सिनेमा, विज्ञापन आदि की कसौटी पर हिन्दी खरी उतर चुकी है। धरती पर ऐसी कोई भाषा नहीं जिसे इन्टरनेट सोशल मीडिया से लेकर प्रिंट और इलेक्ट्रानिक मीडिया दोनों में अपने को एक विश्व भाषा के रूप में स्थापित कर लिया है। हिन्दी समय की आधुनिक कसौटी पर खरी उतरी भाषा है।

हिन्दी भाषा की आधुनिक कामयाबी के पीछे हिन्दी साहित्य की तमाम विधाओं में लिखा गया आधुनिक विश्वस्तरीय साहित्य है, जिसने हिन्दी को साहित्य की दृष्टि से एक सम्पन्न भाषा बनाया। यह भाषा भारतेन्दु से महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि की प्रारंभिक मानी जाती है, 'सरस्वती' से इसका विस्तार होना सभी ने स्वीकार किया है। यह मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती, साकेत, पंचवटी की भाषा है यह माखनलाल चतुर्वेदी सुभद्राकुमारी चौहान की भाषा है। यह वृंदावनलाल वर्मा के मृगनयनी, झांसी की रानी, गढ़कुण्डार जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा है यह प्रेमचंद की कहानियों बड़े घर की बेटी, ईदगाह, की भाषा है यह गोदान, गबन, रंगभूमि, कर्मभूमि जैसे उपन्यासों की भाषा है। यह फणीश्वर नाथ रेणु की भाषा है, यह प्रसाद, पंत, निराला महादेवी वर्मा की भाषा है। यह 'कामायनी' राम की शक्ति पूजा, की भाषा है। यह स्वाधीनता आंदोलन के नायक महात्मा गांधी की भाषा है, हिन्दी राष्ट्रवादी कविता की भाषा है। हिन्दी भारत में 'छायावाद' की भाषा है। हिन्दी 1913 से शुरू हुए हिन्दी सिनेमा की भाषा है। यह आज भारतीय सिनेमा की प्रतिनिधि भाषा है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद में नागार्जुन, त्रिलोचन केदारनाथ अग्रवाल होने के कारण की भाषा है। हिन्दी अज्ञेय, युक्तिबोध, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, दिनकर के काव्य की भाषा है। यह नयी कविता, साठोत्तरी हिन्दी कविता, समकालीन हिन्दी कविता की भाषा है। यह श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वापजेयी, नामवरसिंह, विजय देव नारायण शाही, मैंनेजर पाण्डेय, शिवकुमार मिश्र, प्रेमशंकर, गंगाधर झा, कांतिकुमार जैन के गद्य के साथ हिन्दी आलोचना की भाषा है।

समकालीन कविता में यह अशोक वाजपेयी, कुमार अम्बुज, विनोद कुमार शुक्ल, चन्द्रकांत देवताले की भाषा है। यह शरद जोशी, हरिशंकर परसाई, ज्ञान चतुर्वेदी, सुरेश आचार्य की भाषा है। यह हिन्दी निबंध, यात्रा साहित्य, हिन्दी

नाटक में प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों की भाषा है। यह चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त ध्रुवस्वामिनी, आधे-अधूरे, लहरों के राजहंस, आषाढ़ का एक दिन, की भाषा है। यह जुगल किशोर संपादित उदंत मार्तण्ड प्रथम हिन्दी दैनिक से आज के छोटे अखबारों की भाषा है, पत्रिकाओं की भाषा है। हिन्दी भारत की बोलियों के ऊपर एक विश्व स्तरीय मानक भाषा है जो हिन्दी की सभी बोलियों को समृद्ध करते हुए उन्हें हिन्दी का विस्तृत केनवास देने वाली भाषा है। हिन्दी भाषा और खासकर आधुनिक हिन्दी के आधुनिक विकास की यह संक्षिप्त ऐतिहासिक दृष्टि है जो कि जिस हिन्दी में अशोक वाजपेयी ने लम्बी कविता लिखी वह हिन्दी एक सौ चौदह वर्ष की भाषा है, हिन्दी में लम्बी कविता के फारमेट में युगीन सन्दर्भ की गहन सूक्ष्म, पड़ताल करती 'शताब्दी के अंत के कगार पर' लिखी लम्बी कविता में बीसवीं सदी के जिस भयावह चित्र को एक-एक करके दर्शाया गया है, उससे यह कविता मुक्तिबोध की अंधेरे में, कविता से आगे सदी की सच्चाई का चित्रण करती कविता है।

कवि ने एक ही लम्बी कविता में अनेक जरूरी वास्तविक मानवीय स्मृतियों को गंभीरता से व्यक्त किया है। बीसवीं सदी की जैसी सघन और स्पष्ट अभिव्यक्ति यहां है कहीं और नहीं। बीसवीं सदी के अंतिम पच्चीस वर्षों में यांत्रिक सभ्यता और बाजार ने मनुष्य को उसके मानवीय संबंधों से बेघर कर दिया। मानवीय संबंधों का दायरा बढ़ाने, व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ने के नाम पर आए दिन बाजार अपनी अमानवीय दुनिया लगातार बढ़ा रहा है। संस्कृति और उसके जरूरी मूल्य बीसवीं सदी के अंतिम दशक में मनुष्य से छीन लिए गये। जो काम पूँजीपति वर्ग देश की सत्ता को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर सौ साल में कर पाते, बाजार और उसमें बिक रही यांत्रिक सभ्यता, जिसके बिना हमारा जीवित रहना लगातार असंभव बताया जा रहा है ये बीस-पच्चीस साल में कर दिया। सब रेडीमेड उपलब्ध कराया जा रहा है, अब पूरी दुनिया हमारी मुट्ठी में है, अब किसी संस्कृति, सभ्यता और मानवीय मूल्यों की जरूरत रही। हमारी सम्पूर्ण मानवीयता के साथ हमारे समय ने हमें बाजार में धकेल दिया गया है। संचार, क्रांति, ग्लोबलाइजेशन, ग्लोब विलेज शब्द बीसवीं सदी में ही हमारे पास आए। दुनिया एक गांव बन जायगी। संसार में मनुष्य के रिश्तों, देशों के रिश्तों में जहां-जहां तनाव है सब खत्म में जायगा। सारी दुनिया में मनुष्यता, मानवीयता, की स्थापना हो जायगी। यह धरती स्वर्ग बन जायेगी यही विचार पश्चिम की प्रासंगिकता के साथ हमें दिए गये थे। बीसवीं सदी की बातें बीसवीं सदी में ही

पूर्ण हो गयी। पूरी पृथ्वी सूचना, संचार और बाजार की दृष्टि से एक गांव बन गयी है लेकिन जैसा प्रचार किया जा रहा था, वैसा कुछ हुआ नहीं। भारतीय समाज जिस अमानवीयता, मूल्यहीनता में पहुँच गया है, वह भयावह है। अशोक वाजपेयी की लम्बी कविता 'शताब्दी के अंत की कगार पर' भारतीय समाज की इसी मूल्यहीनता का तीखा एहसास कराती है। इस कविता में कवि की अनुभूति बीती सदी के शुरूआती पचास वर्षों की सामाजिक और दार्शनिक विचारों, मूल्यों के उलट स्वाधीनता के बाद की यांत्रिक सभ्यता की बर्बरता को दर्ज किया गया है। कवि ने यहाँ भारतीय समाज की उस परम्परा का स्मरण किया है जिसमें कवि सर्वोपरि था और कविता। इस कविता में कवि के साथ मिट्टी, लकड़ी और लोहे को जरूरी आकार देने वाले कुम्हार, लुहार, बढ़ई को भी स्मरण किया गया है। समाज के भीतर रहकर समाज को रचनात्मक दिशा देने वाले वर्ग को इस सदी ने सिरे से नकार दिया है। वाल्मीकि से लेकर अशोक वाजपेयी तक भारतीय समाज को सीधे दार्शनिक विचारों और विचारकों ने उतना प्रभावित और उद्वेलित नहीं किया जितना कवि और कविता ने। यहाँ अशोक वाजपेयी की लम्बी कविता में समकालीन कवि और कविता के साथ पूरी भारतीय काव्य परम्परा ही इस सदी के अंत तक आते-आते लगभग समय से बाहर हो गयी है। कविता जो भारतीय समाज की रगों में बहती थी जिसने उसे लगातार मनुष्य बनाये रखने के अपने हर एक संस्करण में सार्थक उपक्रम किये, इस सदी के अंत में वही निर्वासित हो गयी। कविता की शांत विनम्र मानवीयता को यांत्रिक सभ्यता की अंतहीन नवीनता ने समय से बाहर कर दिया है। कविता लगातार जीवन की समीक्षा करती है और बीते समय के साथ आने वाले समय की पहचान कराती है, तथा अपने समय में मनुष्य को हर स्थिति में मनुष्य बने रहने की अकूत ताकत देती है। सृजन और रचनात्मकता में आस्था रखने वाले भारतीय समाज के बदलाव की करूण कथा इस कविता की केन्द्रीय अभिव्यक्ति है। हम कितना गिर गये हैं और इस बीसवीं सदी के अवसान तक आते-आते हम कहां पहुँच गये हैं, इस कविता में परत-दर-परत हमारे सामने खुलता है। यह कविता से ज्यादा बीती बीसवीं सदी के भारतीय समाज की संवेदनात्मक समीक्षा है। जिसमें सबसे पहले समय की खिड़की से कवि दिखायी देता है। "यहाँ कवि का सत्य दार्शनिक के सत्य से भिन्न एवं वह सत्य है जिसे पाने का दर्शन, धर्म और शास्त्र सपना देखते हैं। कविता में कवि ही वह संवेदनात्मक किरदार है जिसे काल के लगातार सरकने का एहसास होता है।"

मैं एक खिड़की खोलता हूँ :

पत्थर में फूटी हैं
जड़ें एक वृक्ष की-
जड़ों में लिपटा है प्राक्-अंधकार
अंधकार में धीरे-धीरे सरकता है काल।

(समय के पास समय पृ/13)

कवि की दृष्टि अब भी बीत रहे समय और उस समय में मनुष्य और उसके चारों तरफ के परिवेश में पनप रही गैर जरूरी सभ्यता के भयावह परिणामों पर है। 'नदी' का या नदियों का भारतीय समाज और संस्कृति में प्राचीन काल से ही जीवन रेखा के रूप में महत्त्व रहा है। नदियों के साथ जीवन का अटूट संबंध भारतीय समाज की पहचान रहा है। नदियों से मानवीय संबंध इस संसार की किसी सभ्यता में भारत की तरह विकसित नहीं हुए। जीवित रहते हुए नदी के साथ रहना और मृत्यु होने पर अंतिम अस्तित्व का भी नदी की गोद में समा जाना। भारतीय सभ्यता और संस्कृति कवि की अनुभूति से भिन्न हो सकती है, पर कविता "शताब्दी के अंत के कगार पर" शीर्षक से लिखी गयी है। इसमें कवि की खिड़की से जो धीरे-धीरे काल बीत रहा दिखायी देता है, उसी खिड़की से 'नदी' दिखायी देती है- जिसमें खून, आँसू, सपने और आशाएँ, नावें, शव और फूल सब एक साथ बह रहे हैं। नदी एक तरफ भारतीय भू-भाग में तथा-कथित 'माँ' सम्बोधन और युगों की पूजनीयता के किस्सों-कहानियों, पौराणिक-आस्थानों की महिमा और अपने प्राचीन सामाजिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक सम्मानों से बे-दखल बीसवीं शताब्दी के कगार तक आते-आते एक गंदा नाला बन गयी है। अब नदी अपने ऊपर लाद दिये गये सभ्यता के भार से भयभीत और झुकी हुई है, अब उसके हाथ से जीवन की डोर छूट रही है- जैसे-

नदी में बह रहा है खून, आँसू
सपने और आशाएँ,
नावें, शव और फूल-
अपने लदान से झुकी हुई
अदृश्य हो रही है शताब्दी। *(वही/13)*

आदिम युग की बर्बरता अभी समाप्त नहीं हुई है अभी भी मनुष्यता के तमाम दावों के बाबजूद बीती सदी के दो विश्व युद्धों के घाव अभी भरे नहीं

है। द्वितीय विश्व युद्ध के परमाणु बमों की विनाश लीला और उसका असर अभी समाप्त भी नहीं हुआ है कि तृतीय विश्व युद्ध की भयानक आशंका से अभी मानव सभ्यता को इंकार नहीं है। "शताब्दी के अंत के कगार पर" कवि देख रहा है अपनी खिड़की से कि अब भी-धरती पर-

तोपें गरज रही हैं,
फटते हैं बम
मौत के घाट उतारी जा रही हैं स्त्रियाँ। (वही/13)

कविता की खिड़की से कवि देखता है कि एक बच्चा जो नहीं जानता समय के दबाबों-तनावों को वह समय के इस भयानक दौर में भी बहा रहा है कुछ शब्द यह शब्द कविता के शब्द हैं और कविता समय के आवेग के सामने एक कागज की नाव भर है जिसके दूर तक जाने की गलत फहमी कवि को भी नहीं है। कवि जानता है कि उसके शब्द जिस कविता की नाव पर सवार होकर समय के जिस भयावह दौर में रचे और अभिव्यक्त किये गये हैं उनसे किसी प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक बदलाव की अपेक्षा बेमानी है।

"एक बच्चा अनजान
फिर भी, समय की धार पर
बहा रहा है कुछ शब्द, कागज की नाव,
अपना भविष्य उनका अतीत।" (वही/13)

बीसवीं सदी में भारतीय समाज का जिस तरह पश्चिमीकरण हुआ है वह सब हमारे सामने है। शहरीकरण और उसमें घर कर चुकी ग्लैमर की चमक-धमक ने भारतीय समाज को मूल्यहीनता की ओर धकेल दिया है। अब नयी सभ्यता की चकाचौंध में साहित्य कवि और कविता ही नहीं मनुष्य की सारी सृजनशीलता हासिए पर पहुँच गयी है। बाजार के लिए जो अनुपयोगी है वह चाहे जितना समाज के लिए जरूरी हो इस सदी में समय से बाहर कर दिया गया है। संगीत, नृत्य, रंगकर्म आदि सब समय से बाहर होते जा रहे हैं। कवि अपनी व्यापक काव्य संवेदना के केनवास में बीसवीं शताब्दी के अंत में उपेक्षित वर्ग का प्रतिनिधि बन गया है।

कवि के साथ जो लोग समय से बाहर हासिए पर पहुँच गये हैं अशोक वाजपेयी ने उन महत्वपूर्ण लोगों के लिए अपनी इस लम्बी कविता में उनसे संवाद की, उन्हें पुनः स्मरण करने की एक जरूरी और मानवीय कार्रवाई की है।

राजनीति और बाजार की सांठगांठ ने बीसवीं सदी के भारतीय समाज की सभी जरूरी आस्थाओं को खंडित कर जिस चालाकी से पूँजीवाद को स्थापित कर दिया है, उससे अब हमारी पहचान का संकट उत्पन्न हो गया है। अब वही कला फल-फूल रही है जिसने अपने बाजारू संस्करण विकसित कर लिए हैं। अब सब कुछ पैसे से और पैसे के लिए हो गया है। फिर भी अशोक वाजपेयी ने कविता में 'कुम्हार' के लिए खिड़की खोली। कविता में जहाँ कवि समय की धार पर लगातार अपनी रचनाशीलता बनाए हुए है जबकि उसे खबर है कि उसके शब्द महज कागज की नाव की यात्रा पर है। निराश कवि की क्षीण उम्मीद ही शेष है अपने समय को कविता के समय में बदल पाने की। नयी सामाजिक संरचना में कवि और कुम्हार दोनों की जगह नहीं है। सदियों से हम कुम्हार के हाथों से बनाये मिट्टी के संसार में जी रहे थे बीसवीं सदी में कुम्हार का वह 'चाक' नयी सदी के ग्लोबलाइजेशन से उपजे कीचड़ में गहरा धस गया है और उससे निकल नहीं रहा। सदी के अंत में अपने समय की पीड़ा से बैचेन कुम्हार अब भी लगातार अपने चक्के पर मिट्टी चढ़ाता है और कोई न कोई रूप गढ़ता है। कवि शब्दों को और कुम्हार मिट्टी को अपने सृजन की बैचेनी से वहां तक ले जाते हैं जहां वह नहीं गए थे। या जो उनसे छूट गया है।

मेरा हुनर मिट्टी के साथ चलने का
उसे वहाँ ले जाने का है, जहाँ वह न गई हो
मुझे कीचड़ से निपटने की हिकमत नहीं आती।

(वही/14)

यहाँ कवि और कुम्हार में अंतर करना कठिन है। इस कविता का काव्य नायक स्वयं कवि है, जो कुम्हार के रूप में अपने थोड़े से समय को लगातार घूमते चके पर मिट्टी के लौदे सा रखकर मनचाहा आकार देता है। रचनाकार समय के किसी भी आवेग से हताश नहीं होता, वह लगातार अपने हिस्से आए समय को अपनी रचनात्मकता से सार्थक घर देने का प्रयत्न अनवरत करता रहता है। बीसवीं शताब्दी में क्या-क्या नहीं हुआ। शुरू के पचास वर्षों में स्वाधीनता का संघर्ष चलता रहा। आजाद होने के बाद भारतीय परिवेश में मनुष्यता पर कीचड़ जमा हुआ,सदी के अंत तक उसने पूरे देश को अपनी चपेट में ले लिया। कवि आलोचक अशोक वाजपेयी को इस सामाजिक सत्य का इस कविता में तीखा एहसास है।

कभी-कभी सोचता हूँ कीचड़ में धँसे चके के बारे में।
मिट्टी का कीचड़ होता तो फिर भी रास्ता निकालता
इस कीचड़ में तो खून, नफरत, जिन्दगी की कई बहशतें,
विलाप, आँसू और बदले एक दूसरे में सने हुए हैं,
और कभी-कभी ऐसा लगता है कि पता नहीं कितने मरे हुए लोग
इस कीचड़ में से आर्तनाद कर रहे हैं,

यह चित्र जो अशोक वाजपेयी ने सदी के अंत में रचा है यही भारतीय समाज की बेबाक सच्चाई है। कविता का सत्य दर्शन के सत्य से अलग और सीधा मानवीय रास्ता बनाता है। यह कविता समकालीन भारतीय समाज की व्याख्या अपने निजी वैचारिक धरातल पर करती है, ठीक मुक्ति बोध की 'अंधेरे में' जैसी। यहाँ कवि ने फैन्टेसी का सहारा लिये बगैर अपने अध्यवसाय से हिन्दी कविता को वहाँ स्थापित किया है, जहाँ समकालीन कविता पहुँचने में कठिनाई महसूस कर रही है। अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता में अपनी विनम्रता के साथ एक नया मुहावरा यहाँ विकसित करने में सफल हुए हैं। यहाँ कविता में जो वर्ग कीचड़ में पटा पड़ा है, उसकी हर आवाज में बेसुरापन साफ सुनायी देता है और जिस वर्ग के कारण यह कीचड़ उत्पन्न हुआ है, वे उस बेसुरी आवाजों को भी दबोचते हुए एक 'क्रूर' हँसी हँस रहा है। इस कविता में कवि के निष्कर्ष बीती सदी में अपनी सामूहिक सामाजिक हताशा को व्यक्त करते हैं। इस लम्बी कविता में कवि के निजी प्रश्न वास्तविक रूप से हमारे समय के यक्ष प्रश्न हैं जिनके उत्तर किसी के पास नहीं।

मैं सोच रहा था कि यह घड़े की कौन सी शताब्दी है?
पीने के पानी का इतिहास क्या है?
अनाज को याद है अपने पहली बार होने का समय?
और क्या काल इस चके के घूमना शुरू करने के पहले से
चक्कर लगा रहा है?
और मैं पता नहीं अपने इस जनम के पहले से
पता नहीं कितनी देर से यहाँ बैठा हूँ -   (वही/15)

रचनाकार अपने समय में लगातार अपनी सृजनशीलता से समय को रच देते हैं शब्दों में, मिट्टी में अपने होने के अर्थ में -

मैं समय नापता नहीं हूँ
उसे अपने चके पर मिट्टी के लौंदे-सा रखकर
रचता भर हूँ। अपने हाथ पर समय बाँधता नहीं हूँ।

(वहीं/15)

अशोक वाजपेयी का काव्य संसार अपने समय में फिर-फिर कर लौटने का संसार रहा है। बीसवीं सदी के अंत तक भारतीय समाज और हिन्दी कविता दोनों जिस सामाजिक, पारिवारिक मूल्यहीनता के दौर में पहुँच गये हैं यहाँ इस लम्बी कविता में उसका मार्मिक स्वर सुनायी देता है।

कोई अदृश्य आयेगा और हमारे सारे सपने सच कर जायेगा या कोई अवतार या कोई मंदिर में बैठा देवता हमें बिना कुछ हमारे किये हमें हमारे चके सहित कीचड़ से निकाल देगा, यह संभावना भी इस सदी के अंत तक आते-आते कमजोर पड़ गयी है। अब हमें जो घंटियां सुनायी दे रही हैं वह नजदीक आने या लाने वाली नहीं, वे घंटियां दरअसल हमें दूर ले जाने वाली है, इतनी दूर की हम कभी वापस लौट नहीं पायेंगे। पर अभी लौट आने की उम्मीद शेष है।

मैं सोच रहा हूँ कि लोग कब
हाथों की ओर, चके और मिट्टी की ओर
अपने कीचड़ से हुमस कर वापस आएँगे। (वही/15)

अपने काव्य संसार में कविता की विविधता, नये विषय और सामाजिक रिश्तों की स्मृति अशोक वाजपेयी के काव्य की पहचान रही है, लेकिन कविता में सदी के अंतिम चरण में वे जिस सामाजिक मार्मिकता को कविता में ले आए वह समकालीन कविता के चिंतन का नया क्षितिज है। नयी पीढ़ी की दिशाहीनता से दुखी और निराश पुरानी पीढ़ी से केवल अपेक्षा ही शेष है और थोड़ा सा सामान भी।

अभी वक्त है मेरे पास इतना हुनर भी बचा है
कि उनके लिए कुछ बर्तन, घड़े बगैरह गढ़ कर रखूँ।

(वही/15)

कवि बीसवीं शताब्दी के अंत के कगार पर देखता है कि इस सदी में मंदिरों से कुछ हुआ नहीं अब दायित्व स्कूलों पर निर्भर है - भारतीय शिक्षा व्यवस्था और पद्धति पर कटाक्ष करते हुए कविता में स्पष्ट है कि ये घंटिया और शिक्षा नीति समाज को जोड़ने की जगह उनमें अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर रही है -

घंटियाँ बज रही हैं
मंदिर की नहीं, स्कूल की
या शायद किसी नए गाने में
पास बुलाने वाली नहीं दूर ले जाने वाली घंटियाँ। (वही/15)

कवि या रचनाकार अपने समय के बृहत् सामाजिक परिप्रेक्ष्य के सरोकारों और उन्हें प्रभावित करने वाले घटकों पर सूक्ष्म दृष्टि रखता है और उनकी सामाजिक समीक्षा करता है यहाँ कुम्हार का सामाजिक 'चका' जो बीसवीं सदी में गहरे कीचड़ में दब गया है- उसे यानि भारतीय समाज को इस कीचड़ से कौन और कैसे बाहर निकालेगा इसकी उम्मीद भी दिखायी नहीं दे रही। समाज के भीतर इस कीचड़ से बाहर निकलने की न तो कोई कशमाकश है और न ही कोई ऐसी 'आहट' है कि लोग आ रहे हैं इस कीचड़ से बाहर निकालने पर कविता अपने शब्दों से निराश नहीं होती। वह किसी मसीहा की प्रतीक्षा भी नहीं करती वह लगातार अपने सृजन और शब्दों पर भरोसा करती है, और उसे उसी समाज से जिसमें वह भी है एक कभी न टूटने वाली उम्मीद की तरह। भले ही कोई आहट नहीं आ रही सामाजिक बदलाव की, कोई हलचल नहीं है सतह पर, अपने समय और सृजन पर शब्दों पर उसे जो गहरा विश्वास है वही कविता की समाज से उम्मीद बंधाता है। यह कि उसके शब्द और उनमें व्यक्त बैचेनी बेकार नहीं जायगी। यह सब कुछ एक ना एक दिन ठीक जरूर होगा। लोग आएँगे और समय के कीचड़ में धसा चका एक ना एक दिन बाहर निकालेंगे। उन्हीं लोगों के लिये काव्य नायक समय के घड़ों में पानी और बर्तनों में गुड़ रखना चाहता है। यह उम्मीद अशोक वाजपेयी के कविता संसार में उनके पहले काव्य संग्रह "शहर अब भी संभावना है" से लगातार बनी हुई है। समय की थकान और निराशा के बाबजूद कविता में अशोक वाजपेयी ने कभी उम्मीद नहीं छोड़ी। समाज में कविता के प्रति जो ना उम्मीदी बीसवीं सदी के अंत तक दिखायी देती है वह इक्कीसवीं सदी के इस दूसरे दशक में बदल नहीं गयी है पर कविता में निराश होना अशोक वाजपेयी को नहीं आता। अपने होने से ज्यादा उनके लिए शब्द का होना है हिन्दी की समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी की कविता का यही मुहावरा उन्हें हिन्दी में बीसवीं सदी का प्रतिनिधि रचनाकार बनाता है। पचास वर्षों में फैली उनकी रचनाशीलता में कविता पर उन्हें हमेशा गहरा भरोसा रहा है। यह भरोसा इतना पक्का है कि आने वाली कई पीढ़ियाँ थी कविता पर

उनके जैसी उम्मीद बनाये रखेगी। शब्दों को साल की कसौटी पर उनके बाद भी लोग कुम्हार की तरह रचते रहेंगे।

चके पर समय को
मिट्टी को
सपनों और यादों को
मिट्टी के लौंदे सा रखकर
कोई न कोई आकार दे रहा होगा।

बीसवीं सदी तक आते-आते आदमी ने आदमी के खिलाफ इस धरती पर कितनी खतरनाक तैयारी कर ली है-'लुहार' कविता में यह भयानक सच कवि ने अपनी पूरी मानवीयता के साथ व्यक्त किया है। भारतीय साहित्य या दर्शन में, पौराणिक, अवतार वादी कथाओं में वर्णित अस्त्र-शस्त्र और उनकी विनाशकारी क्षमता से ज्यादा भयावह अस्त्र-शस्त्र इस धरती पर मनुष्य ने अपने ही विनाश के लिए बना लिए है, इन शस्त्रों को प्रसार और विस्तार भी लगातार वह कर रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध और उसमें घटित हुई मानव विनाश की एक छोटी सी झलक का स्मरण धरती पर विनाश की तैयारी को हमारे सामने स्पष्ट कर देता है। 'शताब्दी के अंत के कगार पर' अब धरती को बचाने सहेजने का आखिरी छोर भी कवि, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी कुँजड़ा के हाथ से छूट गया है। कवि शब्दों में कारगर हस्तक्षेप कर रहा है, कुम्हार अब भी मिट्टी को मनुष्य की आवश्यकतानुसार ढाल रहा है, लुहार अपनी भट्टी में मनुष्य की कठिनाईयों को तपाकर उन्हें मनुष्य की जरूरत के अनुसार सदियों से जैसा आकार देता आया है आप भी वह अपना काम बखूबी कर रहा है। लुहार ने अपनी भट्टी में ऐसा कुछ नहीं बनाया है जिससे समूची मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पहुँच जाए। बीसवीं सदी बीत गयी है पर सदी बीतने से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है स्थिति आज भी वैसी ही है, बल्कि मानव जाति के पतन की गति थोड़ी और तेज हो गयी है। विगत सदी में राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर आदमी ने आदमी की दुनिया पर जैसे गर्म लावा कई बार बहाया है। अशोक वाजपेयी की कविता में जिद मनुष्य और उसकी पूरी मानवीय दुनिया बचाने सहेजने की है। मानव जाति के उत्थान के लिए भले ही लुहार, बढ़ई, कुम्हार, कुँजड़ा, कबाड़ी, मछुआरा और कवि का योगदान न स्वीकार किया जाय पर मनुष्य के अस्तित्व को मिटाने का कोई काम इन्होंने नहीं किया। भारतीय सामाजिक गठन और उसमें विकसित

मानवीय सभ्यता के अभिन्न स्तम्भ है कवि, कुम्हार, लुहार, बढ़ई जिन्होंने भारतीय समाज की मानवीय सभ्यता को अपनी ओर से जीने में पूरा सहयोग किया और दिया। लेकिन दुनिया ने मनुष्य के साथ इस पृथ्वी को ही जीव विहीन कर देने के सामान बना दिये। लुहार जिसकी भट्टी में तपकर वह ज्यादातर चके बनाता है पर कभी-कभी 'गँड़ासा' भी बनाता है- लेकिन हमारे ही आसपास में लोग सबसे घातक चीजें बना रहे हैं। कवि अशोक वाजपेयी परमाणु अस्त्र बनाने वाले देशों और उनकी विचारधारा को बेनकाव करते हुए भारतीय समाज की लुहार की इस मानवीय भट्टी का हवाला देते हैं। जिसमें ज्यादा से ज्यादा गँड़ासा जैसे कोई चीज बनायी जा सकती है, और इससे अधिक घातक विचारधारा भारतीय समाज की है नहीं। यहीं हमारे आस पड़ोस में हमें पूरी तरह मिटाने की गंभीर तैयारी है -

मेरी भट्टी ज्यादातर चके बनाती है
कभी-कभार गँड़ासा भी
लेकिन हमारे समय की भट्टियों में तो लगातार
वह सब कुछ बनता रहा है
जो आदमी, पेड़, पशु-पक्षी सबको
भाव जैसा उड़ा देता है। वही/17

यह हिन्दी की पहली कविता है जिसमें भारतीय समाज, संस्कृति की विश्व स्तर पर मानव जाति के लिए किये धरे की सामाजिक व्याख्या की गयी है। भारतीय समाज और संस्कृति की ओर से विश्व समाज को एक लुहार के गँड़ासे से अधिक खतरा नहीं है। लेकिन परमाणु-बमों, भट्टियों से पूरी पृथ्वी के जीवन के विनाश की पूरी आशंका है और परमाणु भट्टियों में मानव जीवन के लिए बगैर नुकसान पहुँचाये कुछ नहीं बन रहा। जबकि लुहार के हाथों किसी को नुकसान पहुँचाये बिना जीने में मदद किये जाने का इतिहास है -

मैं तो कभी कड़ाही रफू कर देता हूँ
कभी तेजी से सब्जी काटने वाले चाकू को हत्थे में लगा देता हूँ
कभी बाल्टी की पेंदी में हो गए छेद को बंद कर देता हूँ।
वही/17

आदमी के घर बनाने और बसाने में टूटी हुई चीजों को जोड़ने का काम कविता में शब्दों में यहाँ कवि ने अपनी मानवीयता के साथ विन्यस्त किया है।

यहाँ लुहार की भट्टी में पिघले हुए लोहे के साथ उसका मन भी पिघलता है और कोई नया सपना गड़ता है। वहीं दूसरी तरफ भट्टियों में मानव जाति के विनाश की नयी-नयी तरकीबे ईजाद की जा रही हैं। भारतीय समाज और संस्कृति की ओर से यह कविता एक जरूरी पक्ष स्पष्ट करती है।

पिछली सदी में यह बात प्रामाणिक रूप से स्पष्ट हो चुकी है कि इस दुनिया में जो सबसे अधिक विनाशकारी ताकत रखते हैं वे ही अपने को सबसे बड़ा मानवीय बतलाते हैं। इजराइल, फिलिस्तीन, इराक, अफगानिस्तान, पाकिस्तान चेचेन्या जैसी अमानवीय समस्याओं की तह में कौन है सभी जानते हैं। वे एक तरफ मानव विनाश की साजिशें रचते हैं फिर अपने हथियार बेचते हैं और वहीं अपने को ह्यूमन राइट्स का पेरोकार बतलाते हैं। भारत की स्थिति हालाकि अब उतनी कमजोर नहीं रही, पर चीन और अमेरिका दोनों के दवे पाँव पाकिस्तान के साथ होने के कारण भारत की स्थिति कविता में वर्णित लुहार के जैसी ही है। लुहार कोई क्रूर किरदार नहीं है, कवि के जैसी कोमलता और लोहे को भी उसके सबसे बेहतर सपने की तरफ ले जाकर लोहे का सपना सच कर देता है। यह कि लोहे का सपना क्या होगा। इस कविता में वर्णित लोहा पहले चाहे जो रहा हो पर कवि की कोशिश, लुहार के हाथ कवि के हाथ जैसे ही है अतः यहाँ लोहे का सपना मनुष्य उसकी जरूरत के लिए उसके काम आने के लिए उसकी किसी आवश्यक वस्तु में बदल जाना ही होगा। लोहा वही सपना देखेगा जो लुहार की आंखे देखती हैं जैसे शब्द क्या सपने देखते होंगे शब्द वही सपना देखते हैं जो कवि की आंखों में होता है। लोहा से या शब्द या से आदमी सपना जो भी देखता है उससे जीवन की उम्मीद और बढ़ जाती है। शब्द या लोहा दोनों कभी विनाश का सपना नहीं देख सकते।

जब मैं लोहे को चके में या कि किसी और
चीज में बदलता हूँ
तो मुझे लगता है कि मैं
लोहे को उसके सच से उसके सपने में
मुक्त कर रहा हूँ।

वही/18

(समय के पास समय राजकमल/अशोक वाजपेयी)

अशोक वाजपेयी की कविताओं में उनके प्रथम काव्य संग्रह से ही नष्ट हो रहे सामाजिक दायित्वों को पुनः अपनी मानवीयता में लौटने तथा पारिवारिक

एवं सामाजिक रिश्तों में आ रही ठण्डक में अपने शब्दों से फिर से गर्माहट उत्पन्न करने का काम उनकी कविता के केन्द्र में रहा हैं। इस लम्बी कविता में भी सभी उप शीर्षक वही रखे गये हैं जिनके बगैर यह समाज चल नहीं सकता था। लेकिन बीसवीं सदी के विकास ने इन जरूरी रिश्तों को भी समय से बाहर कर दिया है। पाषाण युग से चलते-चलते आज समूची मानव जाति जिस युग में पहुँच गयी है उसकी सच्चाई यह है कि मनुष्य हर उस चीज से अपने को अलग करने में तुला है। जिसने उसे मनुष्य बनाया था। यहाँ कविता के केनवास में समूची मानव जाति के भविष्य की चिंता धधक रही है। कवि को कविता में शब्दों पर और शब्दों को मनुष्य के लिए अपनी सामर्थ्य भर काम आने के सपनों पर गहरा भरोसा है। कविता का समय जो लुहार की भट्टी में लोहे सा गल रहा है कवि को नये सूर्योदय की आस जगाता है। इस लम्बी कविता में संवाद शैली का प्रयोग अशोक वाजपेयी ने चरित्रों के माध्यम से किया है। कविता में जो चरित्र नायक यहाँ केन्द्रीय हो उठे हैं असल तौर पर वे समकालीन समाज में सदी के अंत तक लगभग वे उपेक्षित हो चुके हैं। काव्य चरित्रों से सीधा रिश्ता रखने वाला समाज भी इस पूँजीवादी सभ्यता की उपेक्षा का शिकार हो चुका है। कविता में लुहार की जिजीविषा अदम्य है वह अपने मार्मिक संवाद में स्पष्ट कहता है कि समय जितना भी उसके पास शेष है उसमें वह हताश नहीं बैठना चाहता। वह अपनी भट्टी में लोहे को तपाकर अपने घन से पीट-पीटकर सदी के कठोर सच को नए सपने में ढालता रहेगा। विपरीत परिस्थिति में वह अंत तक उत्साह और जिम्मेदारी से अपना काम करना चाहता है क्योंकि लुहार का काम और दायित्व बड़ा है वह अपने कर्तव्य से पीछे नहीं रहना चाहता।

हो सकता है कि सदी के खत्म होने के पहले ही
मेरी भट्टी बुझ जाए
और उसके साथ लोहे का अपने ही सच में तपकर
अपने सपने में बदलना भी
पर जितनी मोहलत है, जो भी समय बचा है उसमें
मैं फिर अपना घन उठाता हूँ
और फिर इस सदी के एक कठोर सच को
पीट-पीटकर एक नए सपने में ढालता हूँ।   वही/19

आधुनिक समाज की चौंधिया देने वाली चमक-दमक के बीच जिसमें लुहार का अस्तित्व ही कहीं गुम हो चुका है कविता में उसकी केन्द्रीयता और मर्म

कथन हमारे समय के सामाजिक प्रवाह के विपरीत अपनी उपस्थिति को सार्थक करता है। यह थोथा विकास हमें और हमारे समाज को जहाँ ले जा रहा है कविता उसकी पहचान कराती है। लुहार के प्रश्न और शंकाएँ हमारे समय की सच्चाई को विनम्रता से हमारे सम्मुख उघाड़ते हैं। यहाँ कोई चमत्कार नहीं है, हमारे समय के बदलावों के करूण चित्त है जो हमसे संवाद कर रहे हैं। जहाँ एक ओर जीवन का संकट गहरा होता जा रहा है, सारी पहचान मिटती जा रही है वहीं सदी के अंत में कवि के हाथ उसके लुहार खाने में आने वाले समय के मनुष्य के लिए सपने गढ़े जा रहे हैं।

अपने आत्म कथन कहते चरित्र अशोक वाजपेयी की इस लम्बी की विशेषता भी है और विश्वसनीयता भी। कृषि आधारित समाज व्यवस्था के केन्द्र में रहे चरित्र नायक जिनका कोई नाम उल्लेख नहीं है उनका काम ही उनकी सामाजिक पहचान रहा है। सदियों पुरानी अपनी पहचान धुंधला करती बीसवीं सदी के अंत की कगार पर बढ़ई समाज के मन और व्यवहार में उग आई तरह-तरह के भेदभाव की गांठों को अपने रंदे से छीलकर फिर से उसे पुनः मानवीय बनाने का सपना देखता है।

अभी परसों ही मुझे रंदा चलाते हुए ख्याल आया कि
लोगों के बीच जो मन मुटाव है
उसे रंदे से छीलकर फेंका नहीं जा सकता है?
ऐसा हो पाता तो शायद यह दुनिया
किसी नयी मेज की तरह चिकनी और समतल हो जाती।

वही/20 सम.के पा.सम.

दुनिया को अनेक तरह के विचारों और आंदोलनों ने अपने-अपने दायरे में प्रभावित किया है। मनुष्य की इस दुनिया पर किसी एक विचार या आंदोलन का स्थायी प्रभाव आज तक स्थापित नहीं हो पाया। ज्यादातर विचार और उनसे उत्पन्न विचार धाराएँ अपने को दूसरे से श्रेष्ठ घोषित करने के उपक्रम में ही सीमित हो गयी और जिनका इस दुनिया में विस्तृत क्षेत्र हैं भी, वह विचार के कारण नहीं राजनीति और पूँजीवाद के कारण है। यहाँ कविता में 'बढ़ई' इस दुनिया को बेहतर बनाने के लिए उसे अपने रंदे जैसा छीलकर लकड़ी की तरह अच्छा और मानवीय स्वरूप देने वाला कोई बढ़ई नजर नहीं आता। सदी के अंत में दुनिया के स्वरूप और स्थिति उसमें मनुष्य की हालत देखकर बढ़ई हैरान है-

हमारे पास सब औजार हैं हुनर और हिकमत भी-
फिर दुनिया इतनी आड़ी-तिरछी और बेडोल क्यों
पड़ी हुई है?
अगर ईश्वर ने शुरू में ही कुछ किया होता तो बात थी
वरना अब तो लगता है कि बहुत देर हो गयी है।
यों शुरू में भी, ईश्वर बढ़ई कहाँ था?

वही/20

कविता में काव्य नामक के नाम और उसके काम बदल जाते हैं पर बीसवीं सदी की धनीभूत पीड़ा, भेदभाव और अमानवीयता के इतिहास की संवेदना फिर-फिर कर सिहर उठती है। यहाँ बढ़ई को कभी-कभी किसी पेड़ के रोने की आवाज आती है जो सिर्फ उसके हाथ सुन पाते हैं। सदी की संवेदनात्मक सच्चाई को शब्दों में ढालना और प्रकृति के जीवन चक्र की कविता में समीक्षा करना इस लम्बी कविता की उपलब्धि है -

बिना किसी को मारे
जीना कितना मुश्किल है। *वही/21*

मनुष्य की दुनिया को जिन लोगों ने बनाया है उसे आगे बढ़ाया है और लगातार सदियों से अपना काम करते हुए इस दुनिया पर नजर रखी है। आज वे लोग अपने हाथ से छूट गयी इस दुनिया को किस तरह सोचते हैं, कहाँ चूक हुई उनसे या उनके पुरखों से। यहां बढ़ई अपने हिस्से में शेष बचे समय में इस बदल चुकी दुनिया का सपना देखता है और इसके लिए जिम्मेदार उन सभी पूर्वजों पर निशाना साधता है-वह अपने सपने में इसी दुनिया को उन्हीं सबके साथ फिर से बनाना चाहता है जो बीत गया है उस पर बेकार बहस करने से अच्छा है यह दुनिया जहां से हमें मिली है और जितनी भी उसे हम मनुष्य की मानवीय दुनिया में बदल सकें। सारे भेदभाव और नफरत विद्वेष को खारिज कर मनुष्यता को स्थापित कर सकें। कविता कवि और काव्य नायक अपनी सीमाएँ जानते हैं पर कविता में शब्दों को मनुष्यता स्थापित करने से कोई नहीं रोक सकता समय भी नहीं। बीसवीं सदी के अंत की कगार पर कवि को शब्दों पर, कविता पर और कविता में मानवीयता के सपने पर गहरा भरोसा है। हिन्दी की समकालीन कविता का सबसे मुकम्मल चेहरा इस लम्बी कविता में अशोक वाजपेयी ने दिखाया है। कविता जैसी मुक्तिबोध के यहाँ बयान नहीं थी, अनुभूत

सच्चाईयों की अभिव्यक्ति थी, वह भी सीधी नहीं। यहाँ भी कविता बयान, नारा, पोस्टर सबसे अलग मौन में संवाद करती है। हिन्दी की समकालीन कविता जैसे बोलते-बोलते थक गयी हो। और उसने अपने आत्म कथ्य के लिए यहाँ एक नये फार्म की तलाश की है। यहाँ नया फार्म है मौन में जिरह और संवाद। अशोक वाजपेयी की लम्बी कविता में एक चरित्र आता है अपने अनुभव से अपने समय और सदी की नब्ज़ टटोलता है फिर कुछ खाँटी भाषा में अपने हिस्से की सच्चाई मौन में खुद से ही बोलकर चला जाता है। चरित्र एक के बाद बदल जाते हैं पर सदी के दृश्य कविता में नहीं बदलते। बदले भी नहीं जा सकते, क्योंकि इस लम्बी कविता की मूल संवेदना अपने समय में मनुष्य की हालत की सही-सही पहचान करना है।

सदी के अंत के कगार पर कविता एक लम्बी प्रार्थना है मनुष्य की हालत पर। अपने समय और उसके पार भी। 'समय के पास समय' काव्य संग्रह की भूमिका। 'कविता का समय' में अशोक वाजपेयी ने कविता और समय के रिश्ते को नयी परिभाषा दी है, उन्होंने लिखा है। ''अगर लय गति और यति, मौन और मुखरता संकेत और छंद समय के भी गुण हैं तो समय को स्वभावतः कविता के नजदीक माना जा सकता है। पर कविता समय का प्रतिरोध भी है; वह समय को बेधते हुए उससे पार जाने की आकांक्षा करती है।' कविता का विस्तार अनंत है तुलसी ने इस ब्रह्माण्ड को 'मंगल भवन' कह दिया था। 'मछुआरा' कविता में अशोक वाजपेयी ने समकालीन कविता के दायरे को पुनः अनंत का विस्तार देते हुए इस ब्रह्माण्ड को कविता के भीतर सहजता से समाहित कर दिया। जहाँ समय के आँगन में छोटी-छोटी चीजों का बँटवारा हो रहा है, अपने पराये की सभ्यता ने मनुष्य को अकेलेपन की ओर धकेल दिया है, बीसवीं सदी के एकाकी होते मनुष्य और उसकी बर्बर सभ्यता को कवि ने मछुआरे के जाल में फाँसकर पुनः मानवीयता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

अगर पता चले कि
दरअसल आकाश एक बहुत बड़ा जाल है
जिसे किसी ने अंतरिक्ष के अदृश्य जल में
सूर्य, चंद्र तारों-नक्षत्रों, पृथ्वी और ग्रहों को
पकड़ने के लिए फेंक रखा है
और जिसकी जाल फेंककर आंख लग गई है
तो क्या उसे आप मछुआरा ही कहेंगे? *वही/23*

बीसवीं सदी के अंत में कगार पर लिखी इस लम्बी कविता के केन्द्र में समूची सदी में मानव सभ्यता के विकास की सूक्ष्म पड़ताल है। कविता के समय में सदी के समय का ऐसा विनम्र प्रतिरोध आधुनिक हिन्दी कविता में विश्व स्तरीय चिंतन की स्थापना है। बड़ी विनम्रता से अशोक वाजपेयी ने इस लम्बी कविता में हिन्दी कविता और समाज में प्रचलित स्थापित ईश्वर के तमाम अवतारों और आलौकिकता को झड़ाकर खारिज कर ईश्वर को मनुष्यता से ढक दिया है। उसके नाम भी यहाँ पहले से प्रचलित ईश्वरीय नामों से अलग मनुष्य के रोजमर्रा के काम आने वाले जरूरी लोगों की संज्ञा दी है। यहाँ सब कवि, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, मछुआरा, कबाड़ी, कुँजड़ा सब समाज के वे नाम हैं जो समाज में सम्मानित नहीं हैं पर यह समाज आज भी इनके बगैर चल नहीं सकता। मशीनीकरण के युग में इनका सदियों का विनम्र श्रम इस बीसवीं सदी में सब बेकार चला गया। इस लम्बी कविता के काव्य शीर्षकों और उनकी मर्मान्तिक सच्चाई और इस सदी के अंत में जो करूण दृश्य दिखाई देता है, वह भयभीत कर देने वाला है।

यह जो खूँखार शताब्दी बीत रही है
कई बार मुझे लगता है कि
आदमी के जाल में धोखे से मछली के बजाय आ गया मगरमच्छ है
जो उसे लील रहा है
इसे नष्ट किये बिना कोई उपाय नहीं
और फिर जाल फेंकना होगा ताकि
अगली शताब्दी एक सुन्दर मछली की तरह आए
जिसे हम खाए बगैर वापस समुद्र में कुछ दुलार से छोड़ सकें।

कविता में शब्दों में बीती सदी से निराश कवि थका नहीं है, न ही उसकी इस दुनिया के मानवीय हो जाने की उम्मीद टूटी है, वह हिन्दी की समकालीन कविता के पचास वर्षों की अभिव्यक्ति के बीच से पहली बार सदी के आर-पार मनुष्य और उसके द्वारा बनाई जा रही अमानवीयता को परत-दर-परत उघाड़ता है। अपने आस-पड़ोस और जीवन के वस्तुगत संसार से शुरू हुई अशोक वाजपेयी की काव्य संभावना इधर अपने अनुभव जगत और समय की झुर्रियों से परिपक्व होकर बीसवीं सदी के मनुष्य के किये धरे की समीक्षा करती है। और इक्कीस वीं सदी की भयावहताओं से सावधान भी करती है। स्वयं इस

संग्रह की भूमिका में कवि ने लिखा है - "जो लोग कविता लिखते हैं वे कभी-कभी या थोड़ा सा समय भी लिख जाते हैं। शताब्दी में मनुष्य की यात्रा को समेटती यह लम्बी कविता इस अर्थ में शब्दों में लिखा गया समय भी है जो सच भी है और विनम्र भी। बीसवीं सदी का इतिहास देश की आजादी का भी इतिहास है। कितने संघर्ष और बलिदान के बाद आजादी मिली थी। और मिले उसके साथ कुछ सपने थोड़ी सी उम्मीद और थोड़ा स्वाभिमान भी, जो अब समय के यहाँ इतिहास के कबाड़ खाने में पड़ा है। वही धूल में ढकी कहीं बराबरी पड़ी है, जहाँ कबाड़ी के यहाँ अनंत उम्मीदें और सपने।

मुझे ठीक ठीक पता है कि
मेरे कबाड़खाने में कहाँ रखी है आजादी
किस कोने में बराबरी कहाँ किस पुराने बरतन के हिलगा है
एक सपना और किस जगह सिमट कर रखा है
अभी भी साबुत बचा एक सच।

कविता में अशोक वाजपेयी जिस तरह कह सकते थे। उन्होंने बीसवीं सदी के उन सभी जरूरी सपनों और सच को अपनी आँखों कबाड़ की सामग्री हो जाती है ठीक वही हाल बीसवीं सदी के अंत में आकर उन सपनों और उम्मीदों का हुआ है जिनके लिए इस देश और समाज ने हर जरूरी कुर्बानी दी थी। समय और इतिहास के साथ इस लम्बी कविता के दो जरूरी पहलू कविता के हर पड़ाव को नयी ऊर्जा देकर कविता को राजनैतिक बयानबाजी से बचाकर प्रकृति के साफ सुथरे आँगन में ले आते हैं। इनमें पहला मनुष्य के संघर्ष और उसकी सच्चाई की तपन से यह दुनिया बदलेगी, और ऐसे लोग अभी हैं जो अपने-अपने काम में व्यस्त रहने के बाबजूद अनवरत अपने भीतर इस दुनिया को ठीक करने के लिए एक भट्टी सुल गाए रहते हैं। और दूसरा है ईश्वर जो लुहार, बढ़ई, कवि, कुम्हार, मछुआरा, कबाड़ी और कुंजड़ा बनकर अपना ईश्वरत्व छोड़कर यहाँ हमारी तरह सदी के अंत में मनुष्य बन जाता है। ईश्वर का मनुष्य हो जाना इस लम्बी कविता की हिन्दी कविता में एक नयी कड़ी है। यहाँ पहली बार ईश्वर मनुष्य नहीं हुआ है- अवतारवाद से संस्कृत साहित्य अटा पड़ा है - पर वहाँ वह मनुष्य के रूप में अवतार के चमत्कार और अलौकिकता में डूबा हुआ है- बीसवीं सदी के अंत में मनुष्य को वह अलौकिकता अब प्रभावित नहीं करती। इस कविता में ईश्वर मनुष्य के जैसा नहीं मनुष्य ही है जो चमत्कारिक नहीं है। मनुष्य के सपने यहाँ ईश्वर के भी सपने हैं ओर उन सपनों के कबाड़ होने से

वह भी उदास निराश और बैचेन है यहाँ इस लम्बी कविता में ईश्वर और मनुष्य में भेद कर पाना कठिन और कभी-कभी मुश्किल हो जाता है।

कहने को तो अजायबघर-सा लगे है
पर यह सारी दुनिया दरअसल ईश्वर का कबाड़खाना है।

बीसवीं सदी में आदमी ने कितना ही अत्याचार अन्याय किया है। पर अभी सब कुछ टूटने फूटने के बाद बहुत कुछ सहेजने बचाने के काबिल है। और यह काम करने वाले अभी हैं। इस सदी के पास खून-चीथड़ों और धूल मिट्टी में सना आदमी का समय है फिर भी, भाषा का उसके शब्दों का उजाला शेष है।

बीसवीं सदी में मनुष्य की दुनिया जिनके हाथ में थी उनका सूरज गांधी ने अगर डुबा नहीं दिया तो उसकी रोशनी को समेटकर उन्हें उनकी असलियत दिखा दी। सत्याग्रह के शस्त्र से महात्मा गांधी ने जिस ब्रितानी हुकूमत का दुनिया से खात्मा किया वह बीसवीं सदी का अधनंगा फकीर था, जिसकी लाठी और चश्मा जो सत्य और अहिंसा के प्रतीक थे और हैं - इस गांधी दृष्टि को भारतीय समाज ने भले ही छोड़ दिया हो पर कविता में कवि ने गांधी के होने के अर्थ को कविता के समय में अभिव्यक्त किया है।

हिम्मत और उम्मीद के सँकरे होते जाते झरोखे
हमेशा धूप में दमकने वाले राज को दरकाने वाले
अधनंगे फकीर की लाठी और चश्मा
बचा रखे हैं
और इतना एक सदी के लिए काफी है
भले ही वह बीसवीं सदी ही क्यों न हो।

अभी सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है, जो कबाड़ में पड़ा है उसे फिर से सजाया भी जा सकता है यही उम्मीद इस लम्बी कविता के केन्द्र में ध्वनित है।

शताब्दी के अंत की कगार पर कविता में जो लोग और संसार सक्रिय रूप से मौजूद है, वह मनुष्य की वास्तविक दुनिया के रोजमर्रा का संसार है। इस लम्बी कविता का काव्य नायक समय है जो मनुष्य के द्वारा बनाई दुनिया के हासिए से किसी जरूरी बात सा केन्द्र में आकर मुखर हो उठता है। कविता के सभी काव्य नायक अपने समय और इतिहास के साथ मनुष्य की सारी करतूत से वाकिफ और उदास हैं, लेकिन अपने पूरे विस्तृत केनवास में यह आधुनिक

हिन्दी की लम्बी कविताओं में से एक कविता मनुष्य और उसके भयावह इतिहास की चश्मदीद होने के बाबजूद एक जरूरी और मानवीय उम्मीद के ताने-वाने पर रची गई है कविता के केन्द्र में मनुष्य की वास्तविक दुनिया के वे लोग हैं जो न कभी केन्द्र में थे और न केन्द्र में होने का सपना देखना चाहते है हाँ वे सब मनुष्य की बनायी इस बेरहम दुनिया के मानवीय हो जाने की उम्मीद करते है, सपने देखते हैं।

जब मैं जाड़ों में करेला
और गरमियों में फूलगोभी भी बेचता हूँ
तो इस सदी को जी-भर कोसता हूँ
कि इसमें सब्जियों तक को
उनके असली समय से अलग कर दिया है।

अशोक वाजपेयी प्रकृति या मनुष्य किसी को भी उसके समय से जबरन बेदखल करने के विरूद्ध हैं। यह लम्बी कविता प्रकृति और मनुष्य को उसके समय में वापस लौटाने की जिद और उम्मीद से भरी हुई है। घर, परिवार मुहल्ला शहर, देश संस्कृत,भाषा और शब्द को बाजार बनाने और मनुष्य को नीलाम करने पर आमादा बीसवीं से यह कविता मनुष्य और उसकी दुनिया को बचाना चाहती है।

यह कैसी सदी है जिसमें
अब हर मुहल्ला बाजार है
और हर मकान दुकान
बिकने में किसी को लाज और शरम नहीं रह गई है।

इस सदी के अंत में मनुष्य की सारी दुनिया एक बाजार बन गयी है, कल तक मनुष्य कभी-कभी बाजार जाता था अब उसका घर बाजार बन गया है। मनुष्य को उसके घर को कविता बाजार से अलग उसकी पुरानी दुनिया में वापसी का सपना देखती है भले यह सपना हो पर मनुष्य की दुनिया के लिए देखा गया किसी कविता का यह सपना बाजार में छटपटाते मनुष्य की बैचेनी से मुक्ति का सपना है और इसके सच हुए बिना इस दुनिया का मानवीय हो सकना संभव प्रतीत नहीं होता। कविता में बार-बार अपने जीने के लिए, खुद को बचाने के लिए, दूसरों को मारने, नष्ट करने के लिए विकसित हो गयी सभ्यता पर कविता जरूरी और मानवीय सवाल उठाती है जिसे यह बीसवीं सदी

अनदेखा कर आगे बढ़ती जा रही है। यहाँ कुँजड़ा और उसकी दुकान की सब्जियाँ दोनों समय से बाहर और सदी से बाहर हैं। फिर भी इस सदी के मनुष्य को वह समय के हासिये से देखता है। मनुष्य की व्यापक दुनिया उसके सच और सपने यहां कविता की दुनिया में सिमट आये है। जो बीसवीं सदी और उसमें शेष मनुष्य की दुनिया की विनम्र और निर्मम समीक्षा करती है। कविता की तकनीकी और कवि का अध्यवसाय कविता में श्रम साध्य है। सिनेमा में तकनीकी इफेक्ट की तरह कविता में भी समकालीन हिन्दी कविता से अलग एक नयी सूत्रधार टेकनीक को अपनाया गया है। कविता में कवि और समय के रूप में सक्रिय शब्द और चरित्रों में ढलता समय कविता में जिस तरह के चित्र उपस्थित करता है उससे यह लम्बी कविता अपने समूचे केनवास में सिनेमा हो जाती है और पाठक, दर्शक/कविता पढ़ने के बाद लगता है हमने बीसवीं सदी के प्रोशेसन को दिन के उजाले में जनतंत्र की खिड़की से देख लिया है।

संदर्भ

1. तिनका-तिनका- 1 पृ. 15 प्रवीण प्रकाशन दिल्ली, अशोक वाजपेयी
2. तिनका-तिनका- 1 पृ. 34
3. तिनका-तिनका- 1 पृ. 37
4. अशोक वाजपेयी की कविता और आलोचना/डॉ. राजेन्द्र यादव-सागर प्रकाशन
5. तिनका-तिनका- 1 पृ. 77
6. तिनका-तिनका- 1 पृ. 78
7. तिनका-तिनका- 1 भूमिका से
8. तिनका-तिनका- 1 पृ. 376
9. तिनका-तिनका- 1 पृ. 388
10. थोड़ी सी जगह/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली/अशोक वाजपेयी/भूमिका
11. तिनका-तिनका- 2 पृ. 19 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली/अशोक वाजपेयी।
12. तिनका-तिनका- 2 पृ. 25 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
13. तिनका-तिनका- 2 पृ. 166 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
14. तिनका-तिनका- 2 पृ. 344 प्रवीण प्रकाशन महरोली, दिल्ली।
15. उजाला एक मंदिर बनाता है/राजपाल एण्ड संस, दिल्ली/अशोक वाजपेयी/ भूमिका कि चर्चित कविताएँ

हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी

1. हिन्दी कविता में पहचान।
2. प्रेम और श्रृंगार।
3. परिवार।
4. भाषा में तत्सम की सर्जना।
5. सामाजिक चेतना।
6. प्राचीन कवियों की अनुगूंज।
7. नये काव्य विषय (कुमार गंधर्वः मल्लिकार्जुन मंसूर)
8. मृत्यु और अनुपस्थिति

चालीस वर्षों में फैला अशोक वाजपेयी का रचना संसार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में उसके चालू मुहावरों मान्यताओं और प्रसिद्धि के दायरों से सर्वथा अलग और अनोखी पहचान का रहा है। समकालीन हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी के 'काव्य संग्रह' इस "सब कुछ को लीलती सार्वजनिकता के विरूद्ध निजीपन, आत्मीयता और अंतरंगता के पक्ष में एक अथक सत्याग्रह की तरह है।"[1] "शब्द के प्रति उदासीन और भाषा से लापरवाह समय में अशोक वाजपेयी शब्द की अदम्यता, असमाप्यता और पवित्रता के कवि हैं।"[2] अपने समय और समाज का बखान करने और उसे कविता संसार में शामिल करने का उनका अंदाज निराला है, चालू कविता के बहाव में वे बहे नहीं है, डटे रहे हैं। अशोक वाजपेयी के यहां कविता पोस्टर, नारा, चीख या पुकार नहीं है उसके स्थान पर "उनके यहां प्रेम और रति में, आसक्ति और जिजीविषा में, प्रकृतिऔर भाषा में, उसमें चरितार्थ मानवीय रिश्ते में समय और समाज की अधिक सूक्ष्म, प्रायः अप्रत्यक्ष और विचार मौलिक उपस्थिति है।"[3]

अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा उन्हीं के अनुसार 1950 में पहले गणतंत्र दिवस पर चार पंक्तियों की तुकबंदी से अंकुरित होकर आरम्भ होती है। पहली

बार उनका छोटा सा और पहला गद्य काव्य ग्वालियर से हरिहरदास द्विवेदी की पत्रिका 'भारती' में छपा। तत्पश्चात् उनकी पहली कविता "द्वारिका प्रसाद मिश्र की पत्रिका 'सारथी' में छपी थी।"[4] इस पत्रिका में उन दिनों मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा जैसे लोगों की रचनाएं छपती थी। इसी समय अशोक की एक कविता बम्बई से प्रकाशित साप्ताहिक धर्मयुग में छपी। मुक्त छंद में लिखी पहली कविता हरिशंकर परसाई की 'वसुधा' से प्रकाशित साप्ताहिक धर्मयुग में छपी। मुक्त छंद में लिखी पहली कविता हरिशंकर परसाई की 'वसुधा' से प्रकाशित हुई। फिर तो अशोक वाजपेयी की कविताओं के छपने का सिलसिला जैसे टूटा ही नहीं, 1957 में तो वे देश की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण साहित्यकारों की चर्चा का विषय बनने लगे। इस समय तक अशोक की कविताएं 'कल्पना' 'ज्ञानोदय' 'सुप्रभात' 'राष्ट्रवाणी' और 'युग चेतना' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थी।

"1956-57 के आसपास हिन्दी में नये साहित्य का संघर्ष अपने शिखर पर था।"[5] इसी समय अशोक वाजपेयी ने 'समवेत' निकाला, जिससे उनकी समीक्षा आलोचना की शुरूआत हुई और यह क्रम आज तक 'समास' और 'पूर्वग्रह' (102) द्वारा जारी है। अशोक वाजपेयी सबसे ज्यादा चर्चा में तब आये जब उन्होंने समकालीन कविता के हस्ताक्षरों की कविताएं 'पहचान' सीरीज के माध्यम से (1970-74) प्रकाशन का सिलसिला आरम्भ किया। पहचान सीरिज के प्रथम अंक में विष्णु खरे, जितेन्द्र कुमार और ज्ञानेन्द्रपति के पहले कविता संग्रह, शमशेर बहादुर सिंह की षष्ठिपूर्ति पर उनकी नयी कविताएं और उनके काव्य पर रमेशचन्द्र शाह का लेख, तथा सीधी (म.प्र.) में आयोजित लेखक शिविर में पढ़े गये श्रीराम वर्मा, निर्मल वर्मा और मलयज के निबंध प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा का आरम्भ तो छठे दशक के आरम्भ में ही हो गया था। किन्तु रचना में परिपक्वता और भाव संप्रेषण छठे दशक के लगभग अंत में ही आकार ग्रहण करता है। स्वयं अशोक वाजपेयी ने कल्पना, ज्ञानोदय, सुप्रभात, राष्ट्रवाणी और युग चेतना में प्रकाशित अपनी कविताओं को बहुत ही खराब, निन्दनीय कविताएं कहा है। रघुवीर सहाय के संपादनकाल में 'कल्पना' में छपी तीन कविताएं (1958) उनकी फुटकर कविताओं में श्रेष्ठता की श्रेणी में आती है, जो बाद में उनके पहले कविता संग्रह में भी संग्रहीत है।

यह वह समय था जब साहित्य और समाज में स्वतंत्रता के लिये किये गये संघर्ष का पसीना भी नहीं सूखा था कि आजादी के संघर्ष में संजोए गये स्वप्न

धूल-धूसरित होने लगे थे। चीन युद्ध से 'नेहरू युग' के विकास वैभव और समाजवाद आदि शब्दों के अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये, परिणाम स्वरूप हिन्दी कविता में एक बड़े बदलाव की चिनगारी जो सुलग रही थी, मोहभंग के कारण पूरी तरह फट पड़ी। साठोत्तरी हिन्दी कविता मोहभंग निराशा, अविश्वास और आक्रोश के धरातल पर खड़ी दिखाई देती है। किन्तु अशोक वाजपेयी ने तो 'पहचान' सीरीज के आरंभ में ही घोषणा कर दी थी कि वे कविता में बड़बोलेपन और छद्म विद्रोह के खिलाफ हैं, राजनीति से इनको सरोकार है पर संगठित राजनैतिक दलों से नहीं।"[6]

साहित्य के मूल्य और मान्यताएं मानव मूल्यों की तरह शाश्वत हैं। किन्तु इनका आचरण समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। छायावाद के उपरांत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद 1954 में जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित नयी कविता से नयी कविता एक पुख्ता आंदोलन ग्रहण करती है। नयी कविता में (1943) तार सप्तक के प्रकाशन से लगातार बदलाव की लहर चलती आ रही थी, इसमें साठोत्तर में भारी फेरबदल सामने आया। यह परिवर्तन शिल्पगत और काव्यगत दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। नयी कविता में इस समय जहां पीड़ा थी, मूल्यों के टूटने का दर्द था, भविष्य के प्रति आशा और विश्वास की पतली रेखा थी। साठोत्तर कविता में विद्रोह में बदल गयी। देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवेश की कुरूपता ने कवि के मन में विद्रोह की आग सुलगाई। "स्वतंत्रता के बाद का पूरा युग ही लगभग बैचेनी का युग है और अधिकांशतः मोहभंग के पश्चात् यही बैचेनी हिन्दी काव्य में प्रमुखतः से अभिव्यक्त हुई है।"[7] इस समय 'धूमिल' जैसे कवियों पर 'कल्पना' में सतीश जमाली ने तीखी भाषा में लिखा था, "मुझे तो ऐसा भी लगा कि धूमिल जैसे लोग कवि तो हैं ही नहीं किन्ही विज्ञापन कम्पनियों के एजेन्ट हैं यदि ऐसे लोगों में प्रतिभा नहीं है तो यह जरूरी नहीं कि वे लेखक बने रहें, वे कोई और धंधा भी कर सकते हैं।"[8]

साठोत्तरी कविता पीढ़ी के पूर्व के जो विद्रोही लेखक थे उनके विद्रोह के स्वर में वह सब कुछ सम्मिलित था जिसे सही अर्थ में विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है। वे कवि अपने विद्रोह को पंक्तियों में उभारते हुए अपने परिवेश और अपने आस-पास का सही प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे कवियों की रचनाओं में प्रामाणिक तत्व मिल जाते हैं, और उनका भोगा यथार्थ भी। मोहभंग के पश्चात् की कविता ने अनगिनत रूप और रास्ते पकड़े किन्तु शब्दों की उठापटक और चीख शोर-शराबे और जीभ और जांच के भूगोल से आगे नहीं बड़ सकी, इस तरह वह तूफान धीरे-धीरे दूसरी और मुड़ गया।

इसी आक्रोश विद्रोह और निराशा के चरम की कविता के समय नयी कविता में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावनाएं लिये अशोक वाजपेयी का पहला कविता संग्रह "शहर अब भी संभावना है" 1966 हिन्दी कविता के क्षितिज पर अवतरित हुआ। अशोक वाजपेयी ने जिन संभावनाओं की आधार शिला रखी उसकी समकालीन आलोचना में खूब चर्चा हुई है।

विद्रोह को लेकर जो रचनाएं इस बीच सामने आयी वे (कल्पना 210 के अंक में सतीश जमाली के लेख के अनुसार) निन्यानवे प्रतिशत विदेशी कविताओं के प्रभावस्वरूप आयी। अतः आक्रोश, विघटन, संत्रास मूल्यावयात तनाव जैसे शब्द भी कविता में आयात की देन स्वरूप आये। इस काल में बंगला के रास्ते खूब विदेशी कविता की हिन्दी कविता में तस्करी हुई। जिसके फलस्वरूप हमारे यहां अस्वीकृत पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकविता पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, जैसी अनेकों पीढ़ियां सामने आयी। किन्तु इस दौर में भी जो लोग शुद्ध सृजन का रास्ता अपनाये रहे उनमें अशोक वाजपेयी, रघुवीर सहाय, विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल, चन्द्रकांत देवताले, शमशेर बहादुर आदि प्रमुख थे।

अशोक वाजपेयी के अब तक निम्न काव्य संग्रह प्रकाशित हुए है -

1. शहर अब भी सम्भावना है (1966)
2. एक पतंग अनन्त में (1984)
3. अगर इतने से (1986)
4. तत्पुरूष (1989)
5. कहीं नहीं वहीं (1991)
6. बहुरि अकेला (1992)
7. थोड़ी सी जगह (1994)
8. घास में दुबका आकाश (1994)
9. होना पृथ्वी न होना आकाश (1994)
10. आविन्यो (1995)

हिन्दी कविता में पहचान

"भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, में 1966 में प्रकाशित कविता संग्रह अशोक वाजपेयी का पहला काव्य संग्रह था। जिससे हिन्दी कविता में उनकी पहचान हुई। इस काव्य संग्रह में विभिन्न विषयों पर लिखी उनकी इक्यावन कविताएं प्रकाशित है। जिन पर हिन्दी साहित्य में खूब चर्चा हुई है। "शहर अब भी सम्भावना है" के

प्रकाशन के पश्चात् वे शीघ्र ही हिन्दी काव्य और खासतौर से समकालीन हिन्दी कविता के सशक्त हस्ताक्षरों में गिने जाने लगे। डॉ. कांति कुमार ने अपने 'नयी कविता' ग्रंथ में अशोक वाजपेयी को मुक्ति बोध मण्डल के कवियों में शामिल किया है। यह मोहभंग का समय था। इस समय कविता में असहमति, विद्रोह और आक्रोश के स्वर फूट रहे थे। "साठोत्तरी पीढ़ी की एक और प्रवृत्ति रही है जिसमें नयी कविता से असहमति का वैचारिक मुद्दा उतना नहीं उठा, जितना कथ्य विस्तार, कालबद्धता, अनुभव की तीव्रता और उसकी शब्दावली के खिलाफ प्रासंगिक शब्दावली के प्रयोग का आग्रह था।"[9] ऐसे कवियों में श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, श्रीराम वर्मा, विष्णुखरे आदि थे। सोमदत्त, नीलम, कुमार विकल, आग्नेय, भगवत रावत जैसे कुछ नाम और थे जो कविता से प्रतिबद्धता की मांग करते हुए उत्तेजना और रोमांस से मुक्त कविता लिखते थे। अशोक वाजपेयी व्यापक रूप से किसी आंदोलन में शामिल नहीं हुए। "इस समय साठोत्तरी कविता ही नहीं बल्कि साठोत्तरी साहित्य ही मोहभंग और आक्रोश की अभिव्यक्ति से भर गया था, इस माहौल में "शहर अब भी संभावना है" के लिये अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने सम्भावना का कवि कहा है।"[10] युवा कवि होते हुए भी उस समय के प्रभाव से विपरीत उनकी कविता में युवोचित आक्रोश अथवा आवेश, विद्रोह का सम्पूर्ण अभाव दिखाई देता है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि "ये ऐसी कविताएं हैं जो मानवीय होने के अनुभव और तनावों को आत्मीय स्तर पर परिभाषित तो करती ही है, दुनिया के सारे विनाश के विरूद्ध कुछ गहरे मानस संबंधों में अर्थ और सम्भावना की लगातार खोज भी करती है।" इसी खोज ने इन कविताओं को जन्म दिया है जो बिना शोर मचाये वहां शब्द रखने का प्रयास करती है जहां वे पहिले नहीं रहे थे।"[11] निराशा, विद्रोह और आक्रोश की कविता के विरूद्ध उस समय अशोक वाजपेयी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने तात्कालिक कविता की तेज तूफानी धारा के विरूद्ध प्रेम और आसात्ति से रिक्त होते स्थान पर शब्द रखने की हिम्मत की। उनकी कविताओं में यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है-

अन्तरिक्ष को प्रेम जैसे
एक संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए
वहां क्या मैं रख सकता हूँ शब्द
उनका कोई संयोजन जो काव्य हो सके।

('शहर अब भी संभावना है' पृष्ठ 88)

स्वतंत्रता के पश्चात ही हिन्दी कविता में आधुनिकता का बोध इस काल की आवश्यकता के विपरीत दिखाई देता है। साथ ही इसमें पर्याप्त अंतर भी स्पष्टतः नजर आता है। समूचे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य में आधुनिकता का बोध कभी व्यंग्य शैली में मिलता है तो कभी कोलाज की चित्र शैली में। इसमें अवचेतन की असम्बद्ध स्थितियों का चित्रण है। श्याम परमार ने तो इसे आजमाने की कोशिश भी की है और उनका दावा है भीतर का बिखराव कविता में खण्डित बिम्बों को अपनाता है। इसलिए वे मुक्तिबोध तक को बीता हुआ मानते हैं। बिम्ब एक दूसरे के करीब विसंगतियों में जाते हैं इसलिए काव्य बिम्ब और बिम्ब कविता का विरोध हुआ है और सपाटबयानी को महत्व मिला "यह बाहर भीतर का बिखराव नगर बोध की उपज अशोक वाजपेयी की दृष्टि में शहर अब भी संभावना है और कोलाजियों के अनुसार यह मौजूद है।"[12] अशोक वाजपेयी की कविता इसलिए आधुनिकता का दिशा संकेत लिए हुए है इसे ठण्ड की एक शाम पागल औरत एक कविता में आंका जा सकता है - यह औरत कहीं जाना चाहती है ठीक जैसे साठोत्तरी कविता-

मैं कहीं जाना चाहता हूँ
मैं एक बंगले में घुस आई हूँ
मेरे पास एक दिल है
जो किसी के साथ रहना चाहता है
मेरे पास एक भाषा है जो किसी युवा कवि के हाथों रचना चाहती है
और मैं कहीं जाना चाहता हूँ .....।

('शहर अब भी संभावना है' पृ. 44-45)

आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य ग्रंथ में इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है 'इस कविता (पागल औरत) में अगर निश्चित दिशा संकेत नहीं है, तो कहीं जाने का संकेत अवश्य है। ठहरने से परहेज है। इस तरह लोगों को घेर लेने और युवा कवि को पाने की चाह में मानवीय बोध अशोक वाजपेयी को आधुनिकता का बोध कराता है। इसलिए अराजकता, मृत्यु, दृष्टिहीनता, दिशाहीनता आदि के बोध से बच निकलने की वह सलाह देते हैं।"[13] मेरी राय में शहर अब भी संभावना है कि अशोक वाजपेयी की एक पागल औरत का संकेत समकालीन कविता की ओर है जो तमाम मुहावरों से बचकर निकलना चाहती है, और एक युवा कवि के हाथों में संवरना चाहती है। जिसकी सम्भावना लिए हुए अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता में दाखिल

अनेक श्रृंगारिक कविताएं लिखी हैं बल्कि जब मैं संवेदना शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूँ तो कुछ-कुछ उसी अर्थ में जिस अर्थ मैं यह कह सकता हूँ कि शमशेर की कविता बहुत गहरे स्तर पर चाक्षुष संवेदन की कविता है। किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता आरम्भ से ही स्पर्श संवेदन को सक्रिय और बाध्य बनाती है।[15]

आज का दिन पूरा का पूरा बसन्त है
और तुम एक वृक्ष हो
अपनी हर उग सकने वाली पत्ती के
और अपने हर खिल सकने वाले फूल के साथ
और सिर्फ इतनी झुकी हुई
कि मैं तुम्हें उठकर छू ले सकता हूँ ......

(बसंत दिन/शहर अब भी संभावना है, पृष्ठ-18)

साठोत्तर हिन्दी कविता के चालू मुहावरों से कोसों दूर अशोक वाजपेयी कविता में एक भरे पूरे प्रेम की आधार शिला रखते हैं वे जीवन से भागकर किसी एकान्त में जाकर प्रेम नहीं करते बल्कि "इसी अच्छी बुरी दुनिया में अपने लिये थोड़ी सी जगह पाने की दुर्लभ कोशिश करते हैं।"[16] जो उनकी जो उनकी असामान्य जिजीविषा का प्रमाण है।

समकालीन कविता के पटल से हासिये पर फेंक दिये जाने वाले उस शाश्वत प्रेम को जो जीवन का संसार का मूलाधार है अशोक वाजपेयी उसके लिए जीवन के लिए थोड़ी सी जगह मांगकर मांगकर नारों, चीखों और पोस्टरों के भयानक समय में प्रेम को स्थापित करने की सार्थक पहल करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि प्रेम का पर्याय है, प्रतीक है। सम्पूर्ण प्रकृति में प्रेम ही ऐसा सर्वव्याप्त तत्व है जो जड़ चेतन में एक सा ध्वनित होता है। वे प्रेम के लिए इस बृहत संसार में थोड़ी सी जगह हर कहीं चाहते हैं -

आकाश गंगाओं के तुमुल के बीच
थोड़ी सी जगह,
थोड़ी सी जगह
चट्टानों के बीच,
जड़े जमाने और फिर
आकाश की ओर जाने के लिए
अन्तिम शब्द और

होते हैं - और उन सभी अनुपस्थितियों के स्थान पर वे शब्द रखने का दुस्साहस करते हैं जहां कभी स्पर्श था, हाथ थे, कुछ लोग थे, कुछ चीजें थी जिनकी रिक्तता में शब्द रखने की पर्याप्त कोशिश अशोक वाजपेयी अपनी आरम्भिक कविताओं से करते आ रहे हैं, जैसे यह उनकी कविता -

मैंने दुखी होकर देनी चाही अपनी करूणा
तो याद आए वे हाथ
जो अभी थोड़ी देर पहिले उनमें थे,
उनसे जुड़ा वह शरीर जो प्रतिफलित हो चुका है
एक और शरीर में
फिर मुझे मिल गये कुछ शब्द
जिन्हें में वहां रख सकता था
जहां पहले वे हाथ थे .... (शहर अब भी संभावना है)

समकालीन कविता के सन्दर्भ में एक बात तो साफ है कि मनुष्य के लिए मनुष्य का खतरा अधिक है। किन्तु इस स्थिति के बावजूद अशोक वाजपेयी अपने को इस खतरे में शामिल नहीं करते बल्कि वहां खुले धरातल पर कुछ संभावनाएं लिए जीवन की वकालत करते हैं। वे अपने को इस घर्षण से बचाते हुए संवेदनशीलता को सुरक्षित रखते हैं, शब्द को संघर्ष के स्थान पर कोमलता से रखते हैं और आशा विश्वास के साथ जीवन की विसंगतियों में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावना लिये हिन्दी कविता के धरातल पर ''शहर अब भी संभावना है'' अपने पहले काव्य संग्रह से ही एक गहरी पैठ बनाते हैं। शहर अब भी संभावना है समकालीन कविता में एक दस्तावेज की तरह अवतरित होता है।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रेम

समकालीन हिन्दी कविता के क्षितिज से ऐसे समय जब प्रेम और श्रृंगार अपदस्थ हो चुका है अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के केन्द्र में उसे जगह दी है। अशोक वाजपेयी की कविताओं में ''प्रेम की अनेक सूक्ष्मताएं खड़ी बोली में इन कविताओं के माध्यम से पहली बार कविता के परिसर में प्रवेश करती हैं।''[14]

अशोक वाजपेयी ही मुक्तिबोध और अज्ञेय के बाद की समूची पीढ़ी में एक मात्र ऐसे कवि हैं जिनकी कविता में बहुत गहरे स्तर पर एक तरह की श्रृंगारिक संवेदना है। यह श्रृंगारिक संवेदना केवल इस बात से प्रमाणित नहीं है कि उन्होंने

बकता रहता है, और उसके समकक्षी लोग तालियां बजाकर उसकी पश्चिम के किसी बड़े कवि की श्रेणी में उठाकर रखने का यत्न करने में लग जाते हैं।

श्रृंगार विषयक लिखने के लिए प्रेम के स्फूर्त और आत्मीय स्पंदन की आवश्यकता होती है हृदय की मुक्तावस्था के लिए वाणी द्वारा किये गये विधान को आचार्य शुक्ल जी ने कविता कहा है। किसी प्रपंच के साधन को नहीं, इधर हिन्दी कविता में खासकर समकालीन कविता में इस तरह के दोयम दर्जे की बिक्री भी लोगों ने खूब करायी है। कविता के साथ किया गया छल है। जो ज्यादा समय नहीं ठहरता। समाज केवल यथार्थता, विसंगतियों और विद्रूपताओं में ही नहीं बसता। समाज घर में, मुहल्ले में, गांव में, परिवार में, हृदय में भी बसता है जिसे भीतर से (अंतः मन से) हृदय से भी गहराई के साथ ध्वनित किया जा सकता है। गली में खड़े होकर सड़कों पर दौड़ दौड़कर चिल्लाकर ही नहीं। वकौल अशोक वाजपेयी आज के व्यापक जीवन में प्रेम के लिए जगह नहीं बची है। हिन्दी कविता में भी थोड़ी सी ही बची है "चूँकि उसका अधिकांश देश तथाकथित सामाजिक सच्चाई ने घेर रखा है। इसलिए वे एक अलग और अनंत कविता समय में वह कविता देश, थोड़ी सी जगह रचना चाहते हैं जहां प्रेम संभव हो सके।[12]

उसने याद किये कई चेहरे
शहरों की कई ओझल खिड़कियां
कड़ी धूप में भी झुरमुट में
बचा अंधेरा
पुराभाषाओं के लुप्त शब्द
उसने अनादि से अनंत तक
प्रेम के लिए जगह बनाई।" (प्रेम के लिए जगह/थोड़ी सी जगह)

अशोक वाजपेयी हिंदी कविता या वेख्त की तरह "जुल्मतों के समय में जुल्मतों के नहीं बल्कि काफका और नीत्शे की प्रसिद्ध सूक्तियों की पद्धति अपनाते हुए नरक में स्वर्ग के निष्पाप गीत गाना चाहते हैं।[20] जो लोग हिंदी की काव्य परंपरा से वाकिफ है। उन्हें इस पर कोई एतराज नहीं होगा। तुलसी ने सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना यूटोपिया रचा था। भक्त कवियों की सामाजिक मुक्ति की छटपटाहट निर्गुण, सगुण प्रेम की आध्यात्मिक पदावली में प्रकट हुई थी। राष्ट्रीय नवोन्मेष की सामाजिक सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक प्रतिफलन छायावाद में हुआ था। मिलान कुन्देरा कहते हैं कि "हमारे समय में महानतम प्रेम की परिणति भी निसंवेद स्मृतियों के

मौन के बीच
फूल से फल होकर
टपकने से पहले
ओस गिरने
ठंड में उत्तप्त खिलने
नीले आकाश के रक्ताभ होने
मेघों के कामातुर झुकने,
हर सिंगार के फूल छूने की जगह
थोड़ी सी जगह .... (थोड़ी सी जगह, पृ.-19)

यह थोड़ी सी जगह प्रेम के लिए कहकर अशोकर वाजपेयी प्रेम की पुर्नस्थापना हेतु धरती, आकाश सब कुछ प्रेममय कर देना चाहते हैं। वे थोड़ी सी जगह समकालीन कविता के धरातल पर प्रेम के विन्यस्त करने के लिए प्रस्ताव करते हैं। यह थोड़ी सी जगह साधारणत :-

जरा सी जगह ही थी
प्रेम के लिए
पूरी की पूरी पृथ्वी। (पूरी की पूरी पृथ्वी, थोड़ी सी जगह, पृ. 22)

'प्रेम करना भले ही बहुत टेढ़ा न हो परन्तु प्रेम कविता लिखना निश्चित ही टेढ़ी खीर है शायद इसीलिए निराला के बाद ललचाई नजरों से उसे देखने वालों की संख्या तो बहुत है लेकिन उसे पा सकने की क्षमता रखने वाले कवियों की संख्या अल्प है।[17] इन अल्पसंख्यकों में अशोक वाजपेयी और नागार्जुन प्रमुख हैं। जिन्होंने प्रेम की अनुभूति को ''बहुत सधे हाथों कलात्मक अनुभव में रूपांतरित किया है।[18] आधुनिक हिन्दी काव्य में तो तथाकथित सामाजिक यथार्थ के अतिक्रमण के कारण बहुत कम जगह प्रणय भावना के लिए बची दिखाई देती है। हिन्दी काव्य में जिन लोगों के खासतौर से समकालीन साठोत्तर कवियों के बड़े नाम है उनमें से बहुतों ने कविता के क्षेत्र में प्रवेश प्रेम मार्ग की कविता से ही कर ही किया, किन्तु प्रेम मार्ग आसान तो नहीं है और फिर लिखने के लिए जिस पर सूर, मीरा सरीखे लोग लिख चुके हो उस पर लिखने के लिए काफी गहरे डूबे बिना नहीं लिखा जा सकता। श्रृंगार को लेकर रीतिकाल चुनौती देता है और हालत यह होती है कि समकालीन कवि एक है। गहन प्रेमानुभूति की कविताएं लिखकर समाज की तथाकथित यथार्थवादी विसंगतियों को अपना काव्य विषय बनाकर खेमों में रट्टू तोते जैसा पिंजरे में अनाप-सनाप कुछ भी

का विवाद करते हुए शहर अब भी सम्भावना है का जयघोष किया था।''[22] अशोक वाजपेयी ने तब के भीषण विपरीत समय में ''पूरे आत्मविश्वास के साथ एक दुनिया समानांतर बसाने का साहस अथवा दुस्साहस किया था।''[23]

''सिर्फ मेरे हाथ हैं
जो भाषा संभाले है
सिर्फ मेरे होंठ हैं
जो गान थामें हैं।''

अशोक वाजपेयी में ''परम्परा और मानवीयता का सम्बल इतना सशक्त रहा कि कोई समकालीन वादों के थपेड़े उनकी काव्यतरी को डाँवाडोल नहीं कर पाए। प्रेम के प्रस्थान बिन्दु कामना और उसके सुन्दरतम प्रतिफल कविता के प्रति कवि की आस्था अक्षुण्ण रही।''[24] प्रेम के लिए जहां अशोक वाजपेयी थोड़ी सी जगह का प्रस्ताव रखते हैं वही देखते ही देखते प्रेम के लिए प्रेम की कविता के लिए पूरी की पूरी पृथ्वी छोटी पड़ जाती है।

वकौल कवि ''जीवन में अभी सुन्दरता, कोमलता और एन्द्रिकता काफी है और उन्हें अपनी रसिकता के चलते नजर अंदाज करना मुझे न तो जरूरी लगा, न ही कविजनोचित। छोटे से छोटे सच को भी खराब नहीं जाना चाहिए। कुछ ऐसे सच इधर की कविता से अक्सर छूट जाते हैं। मुझे लगा कि उन्हें समेटने की चेष्टा मेरी कविता को कुछ अलग रंगत शायद दे सकती है कुछ अलग औचित्य भी।''[25] और पत्थर से केलि करने लगता है पत्थर/पत्थर करता है/पवित्र/पत्थर को, और सुख अपनी जगह बदलता है तब पता चलता है कि ''मैं फूल खिला सकता हूँ।'' इस तरह कवि प्रेम के रूप को आधुनिक और पुरातन जैसे शब्दों के अर्थों से अलग सिर्फ प्रेम की स्थापना और उसकी स्वाभाविक परिणति को जीवित करता है -

''पत्थर में
एक प्राचीन स्वप्न
उसका लावण्य
प्रेम में
नाचते हुए
खिला देता है
एक आदि ऋतु।''

कंकाल में होती है तब इस अत्यंत भयावह सामाजिक समय में विशुद्ध प्रेम इंडिल रचना, विस्मरण के दौर में कविता के जरिये प्रेम की स्मृति को उसकी जीवंतता और उत्कटता में अक्षुण्ण रखना भी प्रतिरोध का एक प्रभावी तरीका हो सकता है।[21] फिर इससे परहेज क्यों और किसके लिए। प्रेम अपदस्थ होकर आखिर कहां जायेगा जीवन से मनुष्यता से। यह इस तथा कथित सामाजिक सच्चाई से कहीं अधिक प्रासंगिक और जरूरी है।

''आकाश कैसे भागेगा ब्रह्मांड से?
कहां जायेगी पृथ्वी अपनी कक्षा से?
नक्षत्र कहां दीप्त होंगे सौर मण्डल छोड़कर?
फूल हरी पत्तियों ओर झूमती डालों पर नहीं तो कहां फूलेंगे?
तुम कहीं नहीं जा सकते
अपनी त्वचा और अस्थियों से
अपनी भाषा से
अपने प्रेम से।'' (थोड़ी जगह कहीं नहीं/पृ. 150)

अशोक वाजपेयी की कविताओं में हिन्दी काव्य का अतीत जिसका मूलाधार प्रेम है, अपनी पूरी उत्कृष्टता और सघनता के साथ ध्वनित होता है। वह शाश्वत प्रेम अशोक वाजपेयी की कविताओं में कोमल शब्दों द्वारा दस्तक देता सुनाई देता है - मनुष्य जिससे कभी प्रेम रहा करता था उससे बरसों बाद पुनः उसे बसाने का वे प्रयत्न करते है -

''मैं एक पुराना मकान हूँ
जिसमें बरसों बाद कोई रहने आया है।
क्या दरवाजे पर दस्तक
तुम्हें सुनाई दे रही है
एक अकस्मात् अतिथि की तरह
जो संयोगवश तुम्हारे दरवाजे पर आ गया।''
(थोड़ी सी जगह/अकस्मात पृ. 132)

अशोक वाजपेयी के यहां कविता 'तुमुल कोलाहल कलह' में हृदय की, प्रेम की, प्रार्थना की, शरीर के अन्तः स्वप्न की, शब्द की उत्तर जीविता पर एकाग्र सम्भावना की कविता रही है।'' अकविता के उन्मेषकाल में 1966 में जब हिन्दी कविता, कविता से बाहर जाकर भूखी पीढ़ी से शमशानी पीढ़ी तक की सकरी गली का रास्ता नाप रही थी, आलोच्य कवि ने एक आदिम कवि का प्रत्यावर्तन

रसखान तीनों लोकों की सत्ता को ठोकर मारकर कृष्ण की लकुटि और कामरिया को अपनाने की बात करते हैं। उसी प्रेम की आभा के प्रणयन के धरातल पर सूर और मीरा अमर हो जाते हैं जिसके लिये अशोक वाजपेयी लौटकर आने की ललक रखते हैं -

जब हम वापस आएँगे
तो पहचाने न जावेंगे
हो सकता हम लौटे
पानी की तरह
और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें
फिर जब तुम्हारे बरामदे के पंखे के ऊपर
घोंसला बनाएं
तो तुम्ही हमें बार-बार बरजो
या फिर थोड़ी सी बारिश के बाद
तुम्हारे पर के सामने आ गई हरियाली
की तरह
वापस आएं हम .....''

(कहीं नहीं वही/वापसी, तिनका-तिनका, पृ. 29)

इस कविता में कवि मरणोपरान्त फिर उसी जगह लौटकर आने की गहन आकांक्षा व्यक्त कर रहा है जिस जगह, जिस जीवन और जिन लोगों के साथ वह इस जीवन में बिखरा हुआ है, वह कहीं किसी और जगह नहीं जाना चाहता। भले ही वह रसखान की तरह ''जो खग हो तो बसेरों करौं, मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन'' पर ही रहना चाहते हैं। कवि अगले जन्म में वही हरी घास तक के लिए अपने जीवन का ठौर देखता है। कवि की तुलना हम यहां 'रसखान' से कर रहे हैं, फिर भी कुछ ऐसा लगता है कि अशोक वाजपेयी इस कविता में किसी हद तक 'रसखान' को भी पीछे छोड़ रहे हैं, क्योंकि 'रसखान' का आलम्बन कृष्ण के विशाल व्यक्तित्व, शक्ति सामर्थ्य को केन्द्र बनाकर भले ही इसी संसार के प्रति लौकिक जीवन में ही निहित क्यों न हो। उन्होंने बहुत बड़े चरित्र का सहारा ले ही लिया है, जबकि अशोक वाजपेयी सीधे बीतते जीवन ओर उसमें मिली जगह और लोगों को ही अपनी वापसी के लिये उपयुक्त पाते हैं। यह उनके प्रेम की निष्ठा की अनन्त जिजीविषा का ही विन्यास है जो अपने जन्म में वही फिर लौटकर आने और बगिया के किसी नीम पर बसेरा करने, बरामदे के पंखे के ऊपर घोंसला बनाने, पर के सामने की हरियाली में छा जाने, पलाश के पेड़

कवि नाश्वरता के प्रति भी बेखबर नहीं है सब कुछ सजग रहते हुए भी जीवन में प्रेम की ओर लौटने और तो सब कुछ नष्ट होने के पश्चात प्रेम के शेष रहने का विश्वास प्रेम ही दिखाई देता है -

"सब कुछ नष्ट नहीं होगा।
कुछ तो बच ही जायेगा। (तिनका-तिनका/2 कुछ तो पृ. 299)

तथाकथित सामाजिक सच्चाई और छदम उपक्रमों की बाढ़ के द्वारा जीवन से न तो एकाकार संभव है और न ही किसी समस्या का हल। यदि ऐसा होता तो अब तक हमारे यहां क्रांति हो गयी होती या परिणाम में राम राज्य की स्थापना, किन्तु ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। हाँ, सामूहिक संवेदनाएं भोथरी अवश्य हुई हैं। कविता में हुई इस हिंसा से कुछ ऐसा प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी बड़े जोर शोर से भूमिका रखी जा रही थी। एक दुष्परिणाम यह और देखने को मिला कि आम आदमी के दुखों की पैरवी करने वाली सारी विदूपताओं को कविता जैसे कोमल हृदय में जबरन ठूसने वाली इस कलाकारी के कारण लोगों का कविता से विश्वास ही खण्डित होने लगा है और कविता जो दुखों में भी जीने की लालसा देती है, कड़ी धूप में भी घनी छाया बनकर हमारे सिर पर पसर जाती है, दुनिया को आगे देखती है। आज राजनीति से भी बदतर राजनैतिक छलों का अखाड़ा बन गई है। ऐसे में अशोक वाजपेयी जैसे कवियों का एकला चलो रे घोर अंधकार में भी बिना घबराये अंधेरे के खिलाफ दिया जलाने का साहस अपराध कैसे हो सकता है। क्योंकि -

"जब हम प्यार करते हैं
तो दुनिया को छोटे-छोटे अंशों में सिद्ध करते हैं
और सुन्दर भी और समृद्ध भी
जब हम प्यार करते हैं
तब यह नहीं कि आकाश अधिक दयालु हो जाता है
या कि सड़कों पर अधिक खुशी चलने लगती है
बस यही कि कहीं किसी बच्ची को
अपनी छत से उगता सूरज
और पड़ोस की बगिया देखना अच्छा लगने लगता है" .....
(जब हम प्यार करते हैं/थोड़ी सी जगह, पृ. 57)

मध्यकाल में सामाजिक विषमताओं के दौर में 'कबीर' जिस 'ढाई अक्षर' की स्थापना को विद्वान होने की योग्यता प्रतिपादित करते हैं उसी के लिए

वही
जिसके बारे में
अंत को भ्रम है
कि उसने सदा के लिए मिटा दिया।
(कहीं नहीं वही/अंत के बाद/तिनका-तिनका, पृ. 2/31)

वे किसी भी तरह मिटने को ओढ़ नहीं पाते और अंत या समाप्त के फुल-स्टाप को धकेलकर उसकी जगह मध्य या सेन्टर शब्द रखना उचित मानते हैं जन्म और जन्म के बीच में अंत को मध्य की परिभाषा निरूपित करते हैं और जीवन के बाद फिर जीवन की आधारशिला रखते हैं -

अंत के बाद/हम समाप्त नहीं होंगे/यही जीवन के आसपास/मंडराएंगे/ यही खिलेंगे गंध बनकर/ बहेंगे क्या बनकर/अच्छा/ हम अंत को बरकरार/फिर यही आएंगे/ फिर यही आएंगे/अंत के बाद/हम चुपचाप नहीं बैठेंगे। (तिनका-तिनका/2)

यह अदम्य जिजीविषा समकालीन कविता को समूची पीड़ी में प्रेम के धरातल पर स्वेच्छा से वहीं लौट आने की एक तरह से प्रार्थना और चुनौती कही प्राप्त नहीं होती। जहां समकालीन जीवन कविता में भी वही छत, विषमता और विद्रोह के साथ ध्वनित हो रहा है, वहीं अशोक वाजपेयी अंत के बाद भी यही कहीं अपने को बरकरार रखने की चेष्टा कर रहे हैं। समकालीन कविता जहां समकालीन जीवन की तरह पलायन करती इधर-उधर भटक रही है वहीं पर अशोक वाजपेयी इसी संसार में लौट कर आने को बैचेन हैं जहां सब अपने-अपने स्तर पर जीवन से टूटकर बिखर जाने की स्थिति में अपने को मूक दर्शक की भांति देख रहे हैं। जीवन के संत्रास सीधे उठकर कविता में टहल रहे हैं सो आदमी के लिए न जीवन में आशा की किरण बची है और न कविता में। कविता के स्पंदन में प्रेम की जगह आक्रोश, निराशा, टूटन, घुटन के अतिक्रमण के कारण जीवन और जिजीविषा दोनों के लिए जगह ही नहीं बची है। फिर भी कवि ने अपने आरम्भ में जो संभावना रखी थी वह प्रेम का बीज अंकुरित होकर लगातार एक वृक्ष बनता गया है और जीवन को उसके स्पंदन को अपनी छाया में विश्राम दिया है, जो आई नदी के विरूद्ध अपनी नाव खेने से कुछ कम नहीं है।

प्रेम का अतिक्रमण करने वाले तत्व कई हैं जैसे घृणा, आक्रोश, अराजकता, निराशा, विद्रोह आदि। किन्तु इन सभी विरोधी तत्वों का अतिक्रमण अकेले प्रेम कर लेता है। आक्रोश को आक्रोश से नहीं जीता जा सकता अराजकता को

पर नई छाल की तरह उग आने, और वहीं कहीं फिर खुद को विलीन कर देने में ही अपने जन्म की सार्थकता समझता है। और सिद्ध भी करता है। वह चाहे जिस रूप में आये आना वही चाहता है जहां प्रेम है, जीवन है।

"हो सकता है हम आएं
पलास के पेड़ पर नई छाल की तरह
जिसे फूलों की रक्तिम चकाचौंध में
तुम लक्ष्य भी नहीं कर पाओगे।
हम रूप बदलकर आएंगे
तुम बिना रूप बदले भी
बदल जाओगे -
हालांकि घर, बगिया, पक्षी, चिड़िया
हरियाली फूल पेड़ वहीं रहेंगे
हमारी पहचान हमेशा के लिए
गड्ड-मड्ड कर जायेगा-
वह अंत
जिसके बाद हम वापस आएंगे-
और पहचाने न जाएंगे।"

(कहीं नहीं वही/वापसी/तिनका-तिनका, पृ. 29-30)

अंत के बाद कवि किसी हालत में चुपचाप नहीं बैठना चाहता है वह उस भ्रम को चुनौती देता है जिसमें लोगों को अंत के पश्चात् पुर्नस्थापना पर संदेह ही नहीं पूर्ण विश्वास है। वह तुलसी के 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' को लक्ष्य कर सीधे प्रकृति से, प्राकृतिक सत्ता से संवाद करता है और (गौतम बुद्ध के पहले) सिद्धार्थ की तरह अन्त में जीतने और उसके बाद में खुद को बचा ले जाने की बात सहज रूप में कह रहा है।

क्षिति जल पावक
गगन समीर से
फिर कहेंगे
चलो
हमको रूप दो
आकार दो
वही जो पहले था

में महसूस किया है। उनकी "कविता आस-पास की चीजों में अंर्तसंबंध स्थापित करती है और उन्हें अपनी संवेदनशीलता से नयी अर्थवत्ता देती है"[2] अशोक वाजपेयी के यहां कविता एक हथियार नहीं है यहां वह जीवन के छोटे छोटे सत्यों, वस्तुओं और आस पड़ोस के जीवित संसार का मुक्तिबोध के शब्दों में ज्ञानात्मक संवेदन अथवा संवेदनात्मक ज्ञान का विदित विन्यस्त है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी की कविताएं अपने "आस-पास की चीजों में अंर्तसंबंध स्थापित करती हैं।"[3] तथा संवेदना के गहरे स्तर पर जीवन को ध्वनित करती हैं।

समकालीन कविता में "यह विचारणीय है कि एक ओर समय के दृश्य में तो दूसरी ओर पारिवारिक इकाई की भी स्वीकृति है।"[4] कविता में कवि के जीवन की उपस्थिति अनुपस्थिति को लेकर लंबी वैचारिक बहसें चल चुकी हैं, और आगे भी चलती रहेंगी। किन्तु कविता ही क्यों कोई भी सार्थक रचना बिना रचनाकार की उपस्थिति के, सर्जनात्मक कलाकृति कैसे बन सकती है? पर इसके लिए व्यक्तित्व चाहिए। "प्रश्न इसका है कि कविता में हम अपने अनुभव को कितनी ऊर्जा और संवेदन के साथ रूपांतरित कर उसे एक कलाकृति का रूप दे सके है।"[5] चीजें कहीं से भी उठाई गई हों पर उन्हें एक तरह की 'निवैयक्तिक निजता' के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता होना भी आवश्यक है जिससे अनुभूति का साधारणीकरण हो सके।

प्रत्येक रचनाकार अपने सृजन में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अपने परिवार से प्रभावित अवश्य होता है तथा उसकी रचना में उसका जीवन ध्वनित हुए बिना नहीं रहता। इस अर्थ में समकालीन कविता के सन्दर्भ में हम पाते है कि प्रत्येक रचनाकार ने अपने पारिवारिक संबंधों को अपने सृजन में स्थान दिया है। इस काल में अनेक महत्वपूर्ण रचनाकारों ने मां, पिता को अपनी कविताओं का विषय बनाया है। अशोक वाजपेयी ने भी रघुवीर सहाय की 'पिता' कविता के समान अपनी पारिवारिक स्मृतियों को अपनी रचना में पूरी अंतरंगता के साथ शामिल किया है। माँ पर लिखी गयी अशोक वाजपेयी की कविताएं सम्पूर्ण हिन्दी कविता पटल पर प्रतिनिधि रचनाओं में गिनी जाती है। पारिवारिक रिश्तों की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति और सहजता कवि की रचनाओं में आरम्भ से ही स्थान बनाये रही है। पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' से लेकर 'अविन्यो' तक माँ, बहिन, बेटी, पुत्र पिता आदि पारिवारिक संबंधों कवि ने गहरी आत्मीयता के साथ कविता में स्थान दिया है। अपने पहले काव्य संग्रह में अपनी आसन्नप्रसवा माँ के लिए तीन गीत लिखते हुए कवि ने माँ के

अराजकता से नहीं जीता जा सकता। घृणा को घृणा से नहीं जीजा जा सकता, निराशा को निराशा से नहीं जीता जा सकता किन्तु इन सभी को आशा विश्वास और स्नेह के अपनत्व से अवश्य नष्ट किया जा सकता है। जबकि हमारे यहां समकालीन कविता में अधिकतर आक्रोश को आक्रोश से, निराशा को निराशा से, और अविश्वास को विश्वास से नष्ट करने का उपक्रम किया गया है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि इन विषमताओं में कमी की बजाय और वृद्धि ही होती गई है और स्थिति यह हो गई कि कविता सिर्फ कवि के इर्द-गिर्द ही सिमटकर रह गई है। एक क्षणिक आवेश के अलावा उसमें अंतःध्वनियों का ऐसा एहसास बचा ही नहीं है जो किसी को स्थाई रूप से प्रभावित कर सके, और ऐसा भी नहीं है कि कविता में प्रेम और विश्वास का अकाल पड़ गया हो, हां इसकी संभावना खत्म नहीं हुई है। फिर भी अशोक वाजपेयी जैसे लोग निरंतर अपने रचना कर्म में उन शाश्वतताओं को बनाये हुए हैं जो जीवन को जोड़ने की तरफदारी करती है और आज के लगभग बर्बर सामाजिकता के दौर में भी प्रेम की स्नेहमयी पगडंडी का विन्यास बनाये रखती हैं। कवि उम्मीद लगाये हुए है कि कविता कुछ न कुछ करेगी, क्योंकि उसने किया है और उसमें शक्ति भी है कुछ करने की। इस सब कुछ जीर्णशीर्ण होते जा रहे समय में कविता ही है जो कुछ उम्मीद बनाये हुए है-जीवन में, संसार में, कविता में प्रेम की।

''यहां जीर्णशीर्ण है मंदिर
प्रार्थना घर में पुराना धुआं कैद है
पता नहीं पूजा का या चिता का
देवता कर चुके हैं कूच
बची है सिर्फ यह कविता
जिससे हम पूछ रहे हैं
अपनी उम्मीद की कांपती रोशनी में
हमें अब कहां जाना है?''

(तिनका-तिनका-2/आविन्यों/246/247)

परिवार

जीवन के यथार्थ में केवल राजनीति की ही हिस्सेदारी नहीं होती, उसमें व्यापक मानव संबंध भी आते हैं, ''जिसमें हमारा निजी सुख-दुख, घर-द्वार, परिवार भी शामिल है''[1] जिसे अशोक वाजपेयी ने भी बड़ी उत्कृष्टता से अपने काव्य संसार

कवि स्वयं से पूछने लगता है कि लौटकर जब आऊंगा तो क्या लाऊंगा और मां से क्या कहूंगा -

मां
लौटकर जब आऊंगा
क्या लाऊंगा
यात्रा के बाद की थकान
सूटकेस में घर भर के लिए कपड़े
मिठाईयां खिलौने,
बड़ी होती बहनों के लिए अंदाज से नई फैशन की चप्पलें?
या रक्त की एक नई सिद्धि
और गढ़ी हुई वीरगाथाएं?
मां
लौटकर जब आऊंगा
क्या लाऊंगा? (तिनका-तिनका-1/34)

कवि अपनी कविता के माध्यम से जीवन की पूरी किताब खोलना चाहता है। जो स्वाभाविक और अनुभूति के स्तर पर गहरी संवेदना से भरी सच्चाई का सामना करने की बात करती है। अपने धीरे-धीरे बदलते समय की छवियों को समेटे यह कविता कवि को जीवन के साथ-साथ समाज के जीवन से भी एकाकार करती है।

पारिवारिक संबंधों में आलोच्य कवि ने सर्वाधिक कविताएं 'मां' पर लिखी हैं जो अत्यंत मार्मिक बन पड़ी है। करूणा, दया और ममता की साक्षात् जीवित मूर्ति का नाम ही मां है। जिससे समकालीन कविता का प्रत्येक कवि प्रभावित है और थोड़ा बहुत उसने अपने सृजनधर्म में उसे स्थान भी अवश्य दिया है। किन्तु अशोक वाजपेयी की पारिवारिक संवेदनाएं साधारण होते हुये भी सीधे अंतःमन को छू लेने वाले भावों और बिम्बों के कारण मन को गहरे स्तर पर प्रभावित करती है। मां की स्मृति में लिखी गयी उनकी यह कविता 'स्वर्ग में नरक' एक ऐसी संवेदना भूमि पर रची गयी है जहां एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार का दृश्य है और जिसमें साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता का दूर-दूर तक जरा भी अभाव नहीं है- यह कविता एक जीवंत है जिसे शब्दों में देखा जा सकता है।

दूसरे के लिए
जीवन भर मरने के बाद

सौन्दर्य का गौरव पूर्ण वर्णन किया है। हिन्दी साहित्य में माँ पर लिखी सर्वश्रेष्ठ कविताओं में से यह एक है --

तुम्हारी बाहें ऋतुओं की तरह युवा है
तुम्हारे कितने जीवित जल
तुम्हें घेरते ही जा रहे हैं।

और तुम हो कि फिर खड़ी हो/अलसायी, धूप तपा मुख लिये/एक नये झरने का कलरव सुनती/एक घाटी की पूरी हरि महिमा के साथ .....

(तिनका-तिनका-1/29)

जीवन की भागम-भाग और सभ्यता के बदलते तेवरों के बीच जीवन और कविता दोनों के पटल से निष्कासित होते जा रहे पारिवारिक संबंधों के माहौल में कवि इन संबंधों को जीवन से अभिन्न और गहरी आत्मीयता के साथ उनसे एकाकार करता है। पश्चिम की धुआंधार आयात होती जीवन शैली की वैयक्तिकता के अंधकार में जो चमक या रोशनी का छलावा दिख रहा है, वह धोखा है। जीवन यहीं अपने परिवार और उसके आस-पास है। जहां जीवन के हर्ष विषाद है -

एक भारी ठण्डक में सहमा हुआ
तुम्हारा शरीर याद करता है
अपना निरंतर अपमान
कि सभी तुम्हारे हाथ अचानक छू लेते हैं
बगल में सोये पांचवे बच्चे का शांत
सरल शरीर
तुम्हारी आंखों में तिर जाती है जन्मकथा

(तिनका-तिनका-1/33)

आलोच्य कवि जीवन के छोटे से छोटे सत्य को भी बेकार नहीं जाने देना चाहता वह जहां से आया है वह जीवन ही उसकी रचना के मूल में स्पंदित है। वहीं उसकी काव्य सामग्री है वह उन्हीं सुखों-दुखों को रचना की कसौटी पर कस रहा है। जिससे वह प्रभावित रहा है या जिसका उसने साक्षात्कार किया है। नारे पोस्टरों और बयानबाजी के दौर में जीवन का अतिक्रमण कर चुकी सामाजिक सच्चाई की तथाकथित कविता के आतंक के विरूद्ध जीवन के लगभग भुला दिये गये पहलुओं को स्थान देना, उन्हें पुर्नजीवित करने का उपक्रम करना एक भारी भरकम सेना के मुकाबले निहत्थे डटे रहने की जीवटता का ही प्रमाण है। जो

कवि पारिवारिक स्मृतियों से सघन आत्मीयता स्थापित करने में कविता के धरातल पर अपनी स्मृतियों को साकार रूप में दृश्यावरण कर देने की उसकी क्षमता अद्‌भुत है। रघुवीर सहाय की 'पिता' कविता के समकक्ष अशोक वाजपेयी पिता का स्मरण गहरी बिम्बीय उपस्थिति में मानस के गहरे स्तर पर ध्वनित करने में सफल होते हैं-

एक पैतृक वृक्ष हैं
और उसके नीचे रखे हैं वे काले जूते
मरे हुए चमड़े के
कुछ पसरे हुए जीवित पैरों के दबाव से
जो अब नहीं है
पैर अब नहीं है
और न ही वह आदमी। (तिनका-तिनका 1/पिता के जूते, पृ. 125)

यहां कविता में जो संसार उभरता दिखायी देता है। वह आयातित अथवा दूर से लाया गया नहीं है, "वह हमारे आसपास का रोजमर्रा का गड़ता दुखता संसार है।"[7] उसी का अभिन्न अंश परिवार उसके लोग हैं। अपनी 'दिवंगत बहन' कविता में सहज ही हृदय को द्रवित कर देने वाली विकलता है जो शब्दों के माध्यम से कविता में मूर्तिमान होकर उपस्थिति होती है-

समय पास बैठा रहा होगा चुपचाप
जब बहुत पहले
मैं अपनी बहन के साथ खेल रहा था एक साथ
खेल रहा था एक खेल
पत्थर पर चाक से खाका खींचकर
मुझे याद नहीं/धुंधलका जो था
खेल-खेल में खो गया था/उसका नाम
(तिनका-तिनका-1/देवंगत बहिन, पृ. 127)

"एक फरेब का घर होते जा रहे संसार में हिंदी कविता की विश्वसनीयता को पुनः अर्जित करने का रचनात्मक संघर्ष अपनी भाषा के भाव स्त्रोतों अर्थात् अपनी सामाजिक और पारिवारिक आत्मीयता और उस आत्मीयता की आधारभूत आस्था से जुड़े बिना नहीं हो सकता है।"[8] 'दौआ बाबा' कविता में कवि अपने पैतृक गांव राजापुर गढ़ेवा में अपने पूर्वजों को लेकर जो चित्र खींचता है वह उनके पूर्वजों की जीवन चर्चा के साथ-साथ गांव के जीवन को उसकी मान्यताओं

को दुहरा रहा होता है। होली के अवसर पर अलैया-बलैया, सरसों के पांडे जाए फिर दौआ बाबा का एक पाँव से लँगड़े होने के बावजूद ढोल बजाते हुए नाचने लगना और नाच-नाच में उनके पैर की लंबाई बढ़ जाना और उनका पूरा हो जाना पूर्णांग होते दौआ बाबा का सब को देखना, देवताओं का आभार मानना, वर्ष में एक बार पूर्ण होते दौआ बाबा वर्ष भर पूर्णता की इच्छा कैसे जिलाये रखते थे पूरी इच्छा होती है पैर नहीं चाहे वह किसी का भी क्यों न हो।

अपने जीवन से जुड़ी प्रत्येक स्मृति को बेकार न जाने देना और इसका सृजनात्मक उपयोग करना किसी कुशल कवि के ही वश की बात है जिसमें अशोक वाजपेयी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। थोड़ा गौर करे तो पायेंगे कि पारिवारिक रिश्तों या घरेलू स्मृतियों को लेकर जितनी कविताऐं इस दौर में लिखी गई उतनी हिंदी कविता के किसी भी दौर में नहीं लिखी गयी होगी।''[9] और अशोक वाजपेयी ने तो पारिवारिक रिश्तों और उनकी स्मृतियों को अपने काव्य में लगातार जगह दी है।

उपभोक्तावादी सभ्यता के आतंक से छीजते सामाजिक पारिवारिक संबंधों के दौर में जीवन की प्रथम पाठशाला से निरंतर विमुख होते व्यक्ति और समाज को पारिवारिक रिश्तों या घरेलू स्मृतियों की ''ये कविताएं विशफुल थिंकिंग नहीं बल्कि गहरी वेदना से प्रसूत होती दिखाई देती है और इसलिए हमें किसी कृत्रिम आशावाद की ओर ले जाने या निराशा के गहरे अन्तराल में ढकेलने की बजाय एक मानव विरोधी परिवेश में मनुष्य बन कर खड़े रहने की ताकत देती है क्योंकि ये आत्मीयता को एक मानव मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है''[10] जैसे 'दिवंगत मां के नाम पत्र' कविता में कवि के जीवन की स्मृतियां और कड़वाहटें वेदना के गहरे स्तर से निकलकर आकार ग्रहण कर रही हैं। सामान्य किन्तु हृदय को द्रवित करने वाले बिम्ब जो इस कविता में प्रमुखता से उठाये गये हैं, उन्हें समकालीन काव्य में बहुत कम स्थान मिल पाया है। जीवन की पवित्रता और सार्थकता समकालीन उपभोक्तावाद से दूर कवि उसी सुख-दुख से भरे संसार में प्रतिष्ठित करता है जहां अभाव है, प्रेम है, जीवन है और कभी न खत्म होने वाली जिजीविषा है-

''यहां एक छोटा सा मुहल्ला है
जहां लोग एक दूसरे की मदद करते हैं
लोग भोजन से पहले ईश्वर को धन्यवाद देते हैं
पवित्र पुस्तक को हाथ लगाते हैं''

(तिनका-तिनका 2/227)

वह मुहल्ला और उसकी वस्तुएं और लोग बेहद अंतरंग अनुभूति के साथ इस कविता में जीवन से एकाकार हो रहे है। जो आज सिर्फ स्मृतियों में शेष रह गया है यह कविता हमें हमारे जीवन से नितांत कर जाने के बारे में सोचने को बाध्य करती है जिसे हम छोड़ने को आतुर हुए जा रहे हैं। 'दिवंगत मां के नाम पत्र' कविता में कवि के जीवन सन्दर्भ उसकी आत्मीयता और प्रेम उसके अनुभव और लगाव उसका बचपन से लेकर बुढ़ापे की ओर बढ़ता जीवन, उसका परिवार, परिवार की कभी न भूलनेवाली घटनाएं, उसका मुहल्ला शहर और उससे जुड़ी स्मृतियां कविता में जीवित रूप में प्रकट हो रही हैं। यह कविता परिवारजनों पर लिखी कविताओं में सर्वसाधारण किन्तु पाठक को सहज ही उद्वेलित कर अपने जीवन में वहीं वापस लौटने की राह दिखाती है जिसे आज लगभग हासिये पर धकेल दिया गया है। और कवि दूर देश में बैठा सीधा उस जीवन, उस परिवार, उसके सदस्यों से तादात्म्य बना लेता है। और उन्हें वहीं दक्षिण फ्रांस में रोम नदी के किनारे बसे 'आविन्यो' शहर के प्राचीन मठ में रहते हुए सागर की स्मृतियाँ कविता में आकार ग्रहण करने लगती है, जैसे -

यहां तुम नहीं हो : यह परदेश है
पर लगता है वही गोपालगंज है बकौली कठचंदनवाला
और यहां का कुआं हमारे घर के अन्दर है
जिसके पास हम सब नहाते थे
यों तो पानी से पर तुम्हारे सजल लाड़ दुलार से...

(तिनका-तिनका 2/227-228)

निराला के जीवन के अभाव और विसंगतियां तथा स्मृतियां जिस तरह 'सरोज स्मृति' में व्यक्त हुई हैं। उसके समकक्ष ही 'दिवंगत माँ के नाम पत्र' कविता में व्यक्त अशोक वाजपेयी के जीवन की स्मृतियां निजी होते हुए भी संवेदना के गहरे स्तर पर सभी को प्रभावित करती हैं -

"तुम्हें पता नहीं उस क्षण सब कुछ से विदा लेते
मुझ अनुपस्थित से भी विदा लेना याद रहा था या नहीं
जीवन ने बहुत अपमान दिया था पर कैंसर से मृत्यु ने भी
पता नहीं क्यों तुम्हारी लाज नहीं रखी थी
अपना अपमान और अपने हम लोगों के लिए मोह के साथ लिए
क्या तुम अभी भी उस देश में भटकती हो।"

(तिनका-तिनका 2/227)

दिवंगत मां से सीधे संवाद कर रहा कवि बहुत व्यथित होकर उसके अंतिम क्षणों को और माँ के असीम अपनेपन की मूर्ति गढ़ता है, जिसमें अपने अपनों के लिए सारे दुख सह जाने की शक्ति समाहित है। कविता नितांत भारतीयता के धरातल पर जिस माँ की स्मृति में द्रवित हो रही है वह माँ अशोक वाजपेयी की ही मां नहीं सर्वसाधारण की मां है। अपने बच्चों के लिये पृथ्वी की तरह सब कुछ सह जाने की शक्ति और त्याग रूपी आदर्श माँ की स्थापना के मूल में एक एक मध्यनिम्नवर्गीय परिवार का चित्र जो इस कविता में जीवंत होता है, वह समकालीन कविता के हासियों पर धकेल दिये गये जीवन में एक जरूरी हस्तक्षेप करता है। नगरबोध की सभ्यता के दौर में अपने लोगों की गंध लेने की और लड़कपन-बचपन को याद करने की जगह कहां बची है। किन्तु कवि जिस तरह से अपनी स्मृतियों में1/रत्ती-रत्ती लौटता है/उसे दूर देश फ्रांस के शहर आविन्यों के प्राचीन मठ से भी यहां की गली में मुझे दीखती हो। वृंदावन मंदिर से लौटती हुई यहाँ ईश्वर की इस सख्त अभेद सी प्राचीर में कहाँ से खुल जाता हैं तुम्हारा भण्डार और पूजाघर/जहां अनाजों, दालों आदि से भरे कनस्तरों के पास एक आले में लटके है तुम्हारे भगवान/ और सामने रामचरित मानस की पुरानी पड़ती प्रति/कुछ फूल और चावल के दाने, घर और उसकी प्रत्येक वस्तु के साथ कवि के जीवंत संबंध से जैसे शब्द बोलने लग गये हैं। वस्तुएं जिन्हें गैर जरूरी मानकर छोड़ दिया जाता है उनसे कवि गहरा संबंध स्थापित करता है और वस्तुएं भी जीवन का, कविता का अभिन्न अंग बनकर सामने आती है। कविता में कवि शब्दों के माध्यम से जैसे ठिनककर दिवंगत मां की गोद में बैठ जाना चाहता है जीवन के अंधेरों में माँ की वत्सलता जो उजाले का स्त्रोत थी उसके सामने अपने आप नतमस्तक हुआ जा रहा है, वह एकांत में भीतर चल रही प्रार्थना से अपने आपको एक पुष्प की तरह अर्पित कर रहा है पूजा घर की घण्टियों के नाच को मां का नाम देता है और अपने जीवन के चारों ओर बचपन की तरह दिदिया (माँ) को पाता है कवि लाड़ से कह उठता है -

"अनन्त में जहां तुम हो
पितरों के जनाकीर्ण पड़ोस में
वही अपने ढीले पेण्ट को सम्हालता
मैं भी हूँ गुड्डन
जैसे यहां इस असम्भव सुनसान में तुम हो

इस कविता इन शब्दों, इस याद की तरह
दिदिया .... । (तिनका-तिनका 2/229)

इस तरह आलोच्य कवि दुनिया के बड़े-बड़े सचों से दूर अपने छोटे-छोटे सचों को बेकार नहीं जाने देना चाहता। वह उन्हीं में भरापूरापन और जीवन की हरीतिमा देखता है जिसे औरों ने दोयम दर्जे का समझ छोड़ दिया है। यह कवि की अपनी निजी विशेषता है।

"पारिवारिक या आत्मीय रिश्तों की स्मृति इस दौर की कविता में किसी 'नास्टेल्जिया' की तरह नहीं बल्कि एक जीवित सक्रिय अनुभव की तरह है और हमारी सामाजिक राजनीतिक त्रासदी को भी पारिवारिक रिश्तों के सन्दर्भ से अधिक अंतरंग स्तर पर यह कविता महसूस करवाती लगती है।"[11] कवि 'बेटी के लिए' कविता में समकालीन समाज और उसकी स्थिति से बेटी को जीवन में आगाह करने की राह बता रहा है-

"वह समझ नहीं पाती कि लोग मददगार क्यों नहीं हैं
क्यों लाचार अकेले और नाराज हैं
सुन्दरता घरों में क्यों सजी रहती है
चौक बाजार फूहड़ क्यों है
लोग क्यों मन मानकर कर लेते हैं स्वीकार"

कवि अपनी बेटी के माध्यम से समाज में लड़की के जीवन के विकास का संक्षिप्त सा प्रस्ताव रखता है-

"उसे पाने दो कामकाज में ही सुन्दरता
उसे सयानापन दो
पर बची रहने दो उसकी निरनुभव सरलता
उसे सख्त दुनिया में संघर्ष करने की इच्छा और शक्ति दो,
पर खिली रहने दो उसके मन में कोमल हरी पत्तियां।
उसे थोड़ा सा भरोसा दो कि
हाथ ही नहीं शब्द भी दुनिया को समझाते
सुधर बनाते हैं।"   (वही 232)

"बेटे और बहू के लिए भी अशोक जी कविता लिखते हैं और दूसरों के घर बनाने वाले बेटे-बहू को गहरी आत्मीयता से महसूस करते हैं-

"यह कहना मुश्किल है कि
थोड़े फैले कागजों पर वे दोनों अपना-सपना अंकित
करते हैं कि सच खींचते हैं
वे संरचते हैं दूसरों के लिए कुछ और उसमें थोड़ा-
सा अपना सच भी रचा देते हैं।
वे खोलते हैं द्वार, खिड़कियां खाली जगहें
जिनमें वे नहीं दूसरे गुजरेंगे
उन्हें सीख दो
हमारा अपना कोई घर नहीं
पर हम जहां रहते हैं कुछ हमारा हमेशा के लिए
छूट जाता है हमसे अलग और स्वतंत्र

बहू को जताओ कि वाजिब दामों पर फल सब्जी खरीदने इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं पैसा नहीं बचा पर रचने की शक्ति तो जमा है"

(तिनका तिनका-2)

बेटे और बहू के लिए कवि इस कविता में अपने वास्तुकार बेटे बहू के घरों को डिजाइन करने को गहरी आत्मीयता के साथ कविता में स्थान देती है और उसे सृजन धर्म से जोड़ते हुए कविता में अपने घर बनाने की बात दुहरा है तथा दूसरों के घर में अपने सच को रचा देने की बात करता है और संतुष्ट होती है अपने सृजन धर्म से। अपने जीवन और कविता की तरह निरंतर अपने परिवारजनों पर स्नेह और अभिमान करने की बात करता है वह कहता है कि उनसे कहो कि दुनिया को कुछ बेहतर रहने लायक बनाने की धुन न छोड़े/कवि अशोक वाजपेयी और नर्तकी पत्नी रश्मि के बेटे बहू होने का उन्हें सच्चा अभियान हो/ यह पारिवारिक संबंधों की सजीवता उनकी काव्य प्रतिभा का जरूरी दस्तावेज है। पारिवारिक रिश्तों में मां, पिता, बेटी, बेटा, बहिन, नानी, दादी आदि अंतरंग रिश्तों को लेकर लगभग हर कवि ने कविताएं लिखी हैं जो उनके अपने अलग-अलग सन्दर्भों और स्थानीय रंगतों के कारण एक मैनरिज्म का शिकार होने से बची रहकर न केवल इन रिश्तों की गहरी आत्मीयता बल्कि इस आत्मीयता पर आघात करने वाली परिस्थिति की पहचान भी करती है।"[12] नयी पुरानी पीढ़ी के अनेक कवियों ने घर को लेकर कई कविताएं लिखी हैं जो घर जैसे विषय के कारण नहीं बल्कि घर की स्मृति या उसकी तलाश की उत्कण्ठा के कारण रचना में पवित्र आत्मीयता की अनुगूंज सुनाई पड़ी है। घर जिसका स्वप्न रचना में आकार ग्रहण करता है "यह ईट पत्थरों का नहीं रिश्तों से बना घर है जिस पर मंगलेश डबराल

भी कविता लिखते हैं प्रभात त्रिपाठी भी और वरिष्ठ कवि रघुवीर सहाय ही नहीं अज्ञेय भी।" अपनी-अपनी विशिष्ट भंगिमा में रची गयी ये सभी कविताएं घरेलू आत्मीयता की तलाश का काव्यात्मक प्रतिफलन है।"[13] जो अशोक वाजपेयी की पारिवारिक कविताओं की प्रेरणा स्त्रोत है और उनकी घर और उसकी स्मृतियों, रिश्तों के प्रति समकालीन समाज के विखण्डित होते मनुष्य को उसके जरूरी जीवन से जोड़ने का रचनात्मक प्रयास है।

भाषा में तत्सम की सर्जना

"किसी भी समय की कविता की एक चालू भाषा बन जाती है और उसमें लिखकर मान्यता पाना आसान होता है। पर कविता भाषा की स्मृति भी है" इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। "कविता में भाषा याद करती है, सपना देखती है, सच टटोलती है। भाषा एक साथ ही हमारे नश्वर जगत का अनुष्ठान है और अपने से बाहर और आगे, बाद तक लगभग अनश्वरता में हमारा प्रवेश भी। कविता अनश्वरता के लिए भाषा का विन्यास है।"[1] क्योंकि कवि के किये धरे का सिर्फ उतना ही अंश उसके बाद भी बचा रहता है, "जो भाषा के विकल विन्यास में जीवित रहता है।"[2] यही भाषा का विन्यास कवि को काल से मुक्त करता है जो उसके बाद भी बचा रह जाता है कविता वह है जो अपने समय को भेदकर उसके पार निकल जाती है जो कविता इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती वह अपने समय में ही ठहरकर रह जाती है ऐसी कविता को "भाषा और समय दोनों ही याद नहीं रखते।"[3] किन्तु अशोक वाजपेयी के यहां ऐसा नहीं है। उनकी कविता में "काव्य भाषा की कुछ पुरानी और लगभग भुला दी गई अंर्तध्वनियाँ फिर सक्रिय हुई है।"[4] समकालीन काव्य भाषा में आ गये चालूपन और अखबारी शब्दों की भरमार ने कविता की उम्र घटा दी। वह कविता न होकर एक आयी गयी बात होकर रह गयी, जिसे तद्भव के आतंक की भी संज्ञा दी गयी है। अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा उन्हीं के शब्दों में "तद्भव के समकालीन आतंक के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति है।[5]

अशोक वाजपेयी की कविता गहरे अर्थ में 'तत्सम' के पुर्नस्थापना की कविता है। अशोक वाजपेयी की कविता में आरम्भ से ही 'तत्सम' शब्दों को समकालीन काव्य भाषा के प्रवाह को अवरूद्ध किये बगैर सृजन का आधार बनाया गया है।

समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी 'तत्सम' को अपनी काव्य भाषा में प्रमुखता से स्थान देने वाले सबसे बड़े कवि हैं। 'कमलेश' जैसे सम्भवतः एक

मात्र अपवाद को छोड़ दें तो उनकी और उनके बाद की पीढ़ी का शायद ही कोई कवि ऐसा हो जिसने 'छायावाद' के बाद काव्यभाषा की तत्सम ध्वनियों का इतना मुक्त और प्रबल प्रयोग किया हो। शब्द उनकी कविता में प्राचीन काव्य ग्रन्थों से शताब्दियों लम्बी यात्रा करते हुए आते हैं और अपनी पूर्वज उपस्थिति से इस कविता और उन काव्यग्रंथों के बीच एक आनुवंशिकी कायम कर देते हैं।"[6] और ऐसे लगता है कि उनकी कविता पूर्वज ग्रंथों और शब्दों की अस्थियों में रहती है -

हम अपने पूर्वजों की अस्थियों में रहती है -
हम उठाते हैं एक शब्द
और किसी पिछली शताब्दी वाक्य विन्यास
विचलित होता है (तिनका तिनका 1/234)

प्रत्येक युग की कविता और काव्य भाषा अपने पूर्व युग की काव्य भाषा में रहती है और वहीं से विकसित होकर अपना नया आधार बनाती है क्योंकि बिना पूर्वजों के भाषा कविता या हम कुछ भी संभव नहीं है। भाषा से तत्सम को बेदखल हमने नहीं उपनिवेशवादी सभ्यता के आतंक ने किया है जिसे हम 'तदभव' सभ्यता भी कह सकते हैं। तत्सम शाब्दिक भाषा ही नहीं एक संस्कृति है और सभ्यता है। समकालीन उपनिवेशवादी सभ्यता की उपज तदभव के विरूद्ध अशोक वाजपेयी नयी पीढ़ी के अकेले हस्ताक्षर हैं जो 'तत्सम' को बिना थोपे स्वीकार कराने की क्षमता रखते हैं उनकी कविता में तद्भव पार्थिव है, नश्वर है जबकि शब्द अनश्वर होता है, शब्द की यह अनश्वरता वे 'तत्सम' में स्थापित करते हैं। वे "पृथ्वी को भजते हुए कवि है इस तरह एक ओर तत्सम का ऐसा प्रबल आग्रह और दूसरी और पार्थिवता के प्रति उत्कट आसक्ति।" "यह विषमता निरे अलंकरण का ही नहीं रसान्वितिका भी स्त्रोत है।"

हिन्दी कविता में 'अज्ञेय' और 'शमशेर' के बाद की समूची पीढ़ी में अखबारी या सामान्य बोलचाल की भाषा का ही बोलबाला दिखाई देता है। जिसे आलोच्य कवि ने 'तदभव' के आतंक की संज्ञा दी है। और उसके (तदभव) स्थान पर 'तत्सम' को रखा है। हिन्दी काव्य का भाषा की दृष्टि से स्वर्ण युग 'छायावाद' माना जाता है। जिसमें 'तत्सम' की अभिव्यक्ति और कोमलता का चरम विन्यास हुआ है, जिसे व्यक्त करना तद्भव के वश की बात नहीं है। और यह बाद के तद्भव आतंक से स्पष्ट भी हो चला है। जिसे अशोक वाजपेयी की कविता ने समझा है और 'तदभव' के अर्थो को तत्सम में पुनः चरितार्थ करने

का साहस दिखाया है अशोक वाजपेयी अपनी भाषा में तदभव की शर्तों पर तत्सम को राजी नहीं करते वे 'तत्सम' की शर्तों पर तदभव को रखने में जुटे दिखाई देते हैं। ''तदभव की सत्ता, जैसा कि हमारा युग मानता हुआ लगता है, न तो मूल है, न केन्द्रीय और न भिन्न, वह तत्सम में समाविष्ट उसी का एक अनुषंग है, वह कहियत भिन्न न भिन्न है।''[7] अशोक वाजपेयी की कविता मानवीय उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों के दायरे में नहीं है। ''उनका सरोकार नेतृत्व केन्द्रीयता (काव्य की भाषा की) का उच्छेद करना है। पर इस उच्छेद की विधि उच्छेदवादी नहीं है, यह विधि है अस्तित्व के यथा सम्भव रूपाकारों, ध्वनियों और कलापों की गझिन सृष्टि के ऐसे अनुस्मरण की कि उस सृष्टि के सौन्दर्य में नेतृत्व का खुद व खुद विलय हो जाये।''[8] हमारे यहां ज्यादातर कविता में 'रति' मनुष्य में व्याप्त ऊर्जा की तरह उभरती है, सार्वदेशिकता के तत्व के रूप में नहीं। ''अशोक वाजपेयी की कविता बजाय इसका उच्छेद करने के, प्रकृति और यहां तक कि शब्द की देह रति के आवेग की क्रियाशीलता को साकार करती है बिना उसे सुर्रियालिस्ट तार्किकता का सहारा दिये।''[9]

अशोक वाजपेयी की कविता के क्षेत्र संतुलन की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध आलोचक 'मदन सोनी' ने उनकी कविता में प्रकृति, रति और मृत्यु को प्रमुख काव्य संयोजक माना है। मैं इसमें प्रेम और स्मृति और जोड़ना चाहता हूँ। ''वे ऐसे संयोजक हैं जो अपनी सर्वदेशीयता ओर सर्वकालिता के चलते मानवीय अर्थ के वैशिष्ट्य और एकाधिकार को तोड़ते हैं।''[10]

प्रकृति, रति और मृत्यु को क्रमशः मानवीय प्रकृति, मानवीय रति और मानवीय मृत्यु के रूपकों में ढालने के बदले कवि ''प्रकृति और रति के मृत्यु की, रति और मृत्यु के प्रकृति भाव की और मृत्यु और प्रकृति के रतिभाव की अनुरचना का यत्न करता है''[11] इन पांचों विषयों पर उनके यहां अनेकों रचनाएं मिलती हैं जैसे-

जहां तुम भी
अपने नाचते शरीर से
अंतरिक्ष को प्रेम जैसे
एक संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए
वहां क्या मैं रख सकता हूँ शब्द (वही)

आधुनिकता शब्द की चहुमुखी फटकी (दादागिरी) के दौर में बहती कविता और जीवन शैली के दौर में आत्मीयता और घरेलूपन का बोध लगभग कविता

में (भाषा में) दोयम दर्जे का मान लिया गया हो, उसी समय में ''मानवीय रिश्तों के अवमूल्यन के खिलाफ एक रचनात्मक संघर्ष की ''हिम्मत करना किसी जोखिम उठाने से कम नहीं है। किन्तु यह जोखिम अशोक वाजपेयी, श्रीराम वर्मा, रमेश चंद्र शाह जैसों ने उठाया है। इन कवियों ने आक्रामक नाटकीय उत्तेजना और ठण्डे मुहावरे की परिपाटी से बचते हुए कविता में घरेलूपन को विषयवस्तु से अधिक भाषा के घरेलू अंदाज के स्तर पर सृजन किया है।''[12]

अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा हमारी रोजमर्रा की बोल-चाल की घरेलू भाषा की टोन (लहजे) पर सदियों पूर्व की कविता के शब्द और बिम्बों को विनम्रता से हमारे समय की समकालीन कविता में सक्रियता से स्थापित करती है। ''जिसके कारण कविता की लय अंतरंग बातचीत की लय पर निर्मित होती है और उसके टोन या लहजे से आत्मीयता झलकती है तथा इसी से उस सहज विश्वसनीयता का बोध होने लगता है जो इस कविता का मुख्य सरोकार है।''[13]

''भाषा में घरेलू लहजे के पुनराविष्कार ने सभी चीजों के प्रति नये कवि की दृष्टि में सूक्ष्म किन्तु बुनियादी परिवर्तन ला दिया है।''[14] भाषा के इस घरेलूपन के कारण काव्य में यथार्थ और स्मृति एकमेव होकर प्रकट हुए। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा पुरातन को भी नये तरीके से देखती है और अपने नयेपन में पुरातन को भी नये तरीके से देखती है और अपने नयेपन में पुरातन विसमित ध्वनियों को ''जीवित अहसास की तरह संजो लेती है।''[15] अशोक वाजपेयी ''जिसके चलते रोमांटिक या छायावादी कही जाने वाली शब्दावली या ठेठ संस्कृत काव्य से लिये गये शब्दों का अकुंठित प्रयोग करते हुए भी वह एक आधुनिक कवि बने रहते हैं।''[16] कवि के काव्य लोक में केवल साहित्यिक स्मृति, ध्वनित हो रही हो ऐसा नहीं है उनकी ''कविता में कुछ पुरानी सी शब्दावली का पुनराविष्कार दिखाई देने के पीछे भी साहित्यिक स्मृति के प्रति उनका आकर्षण ही है।''[17] उनकी कविताओं में उन्हीं के शब्दों में तत्सम की विनम्र उपस्थिति नहीं है बल्कि 'तत्सम' को एक तद्भवता का प्रभाव देने की पेशकश भी है। यह केवल संयोग नहीं है कि अशोक 'तत्सम' का आग्रह अधिकांशतः संज्ञा या विशेषण के लिए तो करते हैं पर क्रियाओं के लिए कम और यह भी कि अधिकांशतः यदि संज्ञा 'तत्सम' है तो विशेषण 'तदभव' या फिर इसके विपरीत। क्रियाएं अधिकांशतः 'तदभव' है और यही वह चीज है जिसके कारण 'तत्सम' एक सक्रिय उपस्थिति होता है।''[18] यही विशेषता अशोक वाजपेयी की कविता भाषा की प्रमुख पहचान है।

वकौल अशोक वाजपेयी "काव्य भाषा की कुछ पुरानी और लगभग भुला दी गयी अन्तर्ध्वनियां फिर सक्रिय हुई है तदभव के समकालीन आतंक के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति।"[19] यह सोलह आने सच है।

सामाजिक चेतना

समकालीन हिन्दी आलोचना में अशोक वाजपेयी की कविताओं पर गैर सामाजिक होने का आरोप सर्वाधिक और बार-बार लगाया गया है। अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने सामाजिक सन्दर्भों को लेकर खूब खरी खोटी सुनाई। किसी ने उन्हें रूमानी कवि कहा, किसी ने देह और गेह का, तो किसी ने उन पर पूरी तरह समाज से विमुख होने के आरोप लगाये हैं। जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में सामाजिक यथार्थ है या नहीं इसका जबाब साहित्य की श्रेणी में जबरन ठूसी गयी छद्म किताबों की राजनीति या पार्टीबंदी नहीं दे सकती। सामाजिक यथार्थ होने या न होने का जबाब या परख केवल विशुद्ध आलोचना दे सकती है या उनकी कविताएं।

अशोक वाजपेयी ने कविता में जीवन को उसकी पूरी समग्रता में देखा है तो कोई अपराध नहीं किया। जीवन को उसकी समग्रता में देखना सब चाहते हैं (और इसी जीवन के अधूरेपन को पूरा करने के उद्देश्य से ही दुनिया में महान क्रांतियां हुई हैं।) किन्तु देख नहीं पाते पर ऐसा भी नहीं है कि अशोक वाजपेयी की कविता से सामाजिक यथार्थ पूरी तरह छूट गया है - समकालीन सामाजिक सन्दर्भों को अशोक वाजपेयी ने भी पूरी उत्कृष्टता से अपनी कविता में आवश्यक स्थान दिया है जो आरोप मड़ने वाले आलोचकों को दिखाई नहीं दिया। अब इसके लिए कोई कवि बेचारा क्या करे। हमारे यहां बहुत से आलोचक ऐसे भी हैं जिन्हें यह गलतफहमी बहुत गहरे स्तर पर और काफी मात्रा में है कि वे जो कहेंगे वही पत्थर की लकीर मान लिया जायगा। वे दिन अब लद गये हैं।

आरम्भ से ही अशोक वाजपेयी की कविताओं में सामाजिक सन्दर्भों को पर्याप्त रूप से व्यक्त किया गया है जिनमें समकालीन समाज के चित्र भरे पड़े हैं। उनकी एक कविता है 'जबरजोत' जिसमें जीवन के यथार्थ और विद्रूपता और विसंगतियों को व्यक्त किया गया है अशोक वाजपेयी की कविताओं में 'देह और गेह' की नहीं 'हल' 'बैल' और किसान तथा 'बड़ी बी की अट्टे पर से चीख' भी सुनायी देती है अब कोई सुनने की कोशिश ही न करे या जानबूझकर कान बंद कर ले तो कविता क्या करे -

उसने एक पेड़ काटकर फेंक दिया
कानून की उस निष्क्रिय उपधारा की तरह
जो उस जैसों के हित के लिए बनाई गई थी
निर्धारित पद्धति से अलग
और गिरफ्तारी का इन्तजार करते हुए
उसने अपने नए साहस के सरल गणित को
पहली बार पहचाना।   तिनका तिनका 1/187/जबरजोत

इस कविता में अशोक वाजपेयी पर मोहभंग के काल का स्पष्ट प्रभाव है यह कविता समकालीन समाज की दशा और उसमें आम आदमी की जीवन स्थिति से सामना करते हुए उसके विपरीत परिस्थिति में पनपे नए साहस के सरल गणित को पहचान रही है। और अब परिणाम की परवाह न करके आदमी का बेपरवाह होना जैसे जरूरी हो गया है -

मुंशी और हवलदार वहीं पास थे
रौब के संवेधानिक व्याकरण से बंधे हुए
और जिन्दगी में
बहुत बार चुप रहने के बाद अब
वह बेपरवाह एक नया शब्द बोल रहा था
जाप्ता, फौजदारी और राजस्व संहिता में
जिसके लिए प्रावधान न था
ऐसे कि उसके पांचों और किसी मेज के पायों में
आप फरक न कर पाएं।

समाज सत्ता और जीवन के संत्रासों की पुर्नव्याख्या करते हुए व्यक्ति के गायब होने के खतरे की स्थिति का खुलासा इस कविता का आधार है। कुछ भी ठीक नहीं है जीवन की, समस्याओं के हल होने की कोई संभावना नहीं है, और उल्टे व्यक्ति के नष्ट होने के खतरे रोज बढ़ते जा रहे हैं।-

और जिन्हें मालूम न हो
कि आदमी को मारने के हजार तरीके
ईजाद किए जा चुके हैं।
एक ये हैं और दूसरा वो

कि कागजों के खेल में
पूरा का पूरा आदमी बिला जाए। (वही-187)

अशोक वाजपेयी समकालीन समाज की स्थिति का सीधा प्रसारण करते हुए कह रहे हैं कि व्याप्त भ्रष्टाचार और जिसकी लाठी उसकी भैंस दोनों ही आदमी को मारने उसे और उसकी सच्चाई को नष्ट करने के अचूक हथियार हैं और इसके अलावा भी जीवन फाइलों कागजों में भी समाप्त हो जाता है। उनसे न्याय की उम्मीद बांधे घूमते हुए आम आदमी को खत्म करने के रोज नये-नये तरीके सामने आ रहे हैं किन्तु कवि के अनुसार कागजों से दम तोड़ देने वाला तरीका बहुत भयंकर है। जिसे कवि एक प्रशासनिक अधिकारी होने के नाते महसूस करता है और आदमी की हालत से द्रवित होकर उसके पक्ष में खड़ा हो जाता है।

सामंतवादी और जमींदारी की कुप्रथा में पिसते छोटे-छोटे किसानों के हक को कविता में गहरी आत्मीयता के साथ कवि व्यक्त कर रहा है इस कविता में व्यक्ति के सामाजिक संघर्ष का चित्र उभरकर प्रभावित करता है -

जमीन के जरा से टुकड़े को अपना मानकर
उसने नाथा हल
और पहली बार
अपने को बैलों से अलग कर लिया
एक कील सी गड़ती चली गई
समुद्र पातालिक शान्ति में
और बड़ी थी अट्टे पर से चीखी।

यह जबरजोत कविता वाजपेयी की समाज सन्दर्भ युक्त कविताओं में सबसे अधिक चर्चा का विषय रही है। एक रूमानी कहे जाने वाले कवि ने कानून, गिरफ्तार, किसान, मुंशी, हवलदार, अदालत, आदि शब्दों का किसान को लेकर उल्लेख कुछ लोगों के विषमय का विषय भी रहा कि कवि में समाज के ''बादलहीन'' आसमान के नीचे/ जुती अधजुती परती पर/कुछ फूट ही आया। सूखते सुनसान में।

समकालीन समाज में जीवन की विषमताओं से जूझता आदमी और समाज में जीवन में आ रहे तीव्र बदलावों की खबर 'हो सकता है' कविता में अशोक वाजपेयी को भी है।

हो सकता है
कि वह जो आदमी खड़ा है
बस की प्रतीक्षा में दफ्तर जाने के लिए
वह देखते देखते
बस आने के पहले ही गायब हो जाए
या कि लकड़ी के आदमकद खिलौने में बदल जाए।

(तिनका-तिनका 1/190)

आदमी का चेहरा इतना बिगड़ गया है कि कवि को खपचियों का चौखटा/नजर आता है समय के दबाबों से आदमी इतना दब गया है कि उसकी हालत सीधे खड़े होने लायक नहीं रही। आम आदमी की हालत का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए कवि कह रहा है—

उस पर से आदमी
कभी पूरा सीधा नहीं
तिरछा और खपचियों का चौखटा
नजर आता है।

एक कवि अपने समय से बहुत बाहर भी होता है और बहुत वर्तमान भी और उसकी कविता समय के आरपार होती है वही कवि और कविता अधिक समय तक प्रासंगिक होती है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी अपने समय के आर-पार तो है ही अपने वर्तमान पर भी उनकी गहरी नजर है चाहे वह वनों बागों से मेज पर सिमट गया बसंत हो, या किले की दीवार की दरार में उग आयी घास हो सब जगह पर उनकी दृष्टि है। 'यही समय है' कविता में कवि पाठक से जैसे अपने पास बैठे किसी मित्र की तरह संवाद कर रहा है और उसे वर्तमान समय के, समाज के, राष्ट्र के बदलावों को हृदय से महसूस कर भावात्मक शैली में बिना चीखे चिल्लाये बहुत ही सहज, सम्प्रेषणीय और आत्मीयता से व्यक्त कर रहा है, जो समकालीन कविता के नारों, चीखों से अलग किन्तु उससे भी ज्यादा प्रभावी ढंग से अपनी सच्चाई रखने में सक्षम है। जो कुछ समाज में बदल गया है उसे और जो समाज में बदल रहा है उसे यह कविता अपने केनवास में समेटने की कोशिश कर रही है। जिसमें सम्प्रेषणीयता कहीं थोड़ी भी बाधित नहीं होती है। कोई भी कवि अपने समय का प्रतिनिधि जानकार होता है, यही बात यह कविता ध्वनित कर रही है। अशोक वाजपेयी की सामाजिक चेतना

पैगम्बराना अंदाज में व्यक्त नहीं होती वे एक सजग दृष्टा की भांति समाज के परिवर्तनों और खण्डित होती मान्यताओं, मूल्यों पर नजर रखते हैं और शोर से अलग रहकर कुछ शब्द सहेजने की कोशिश करते हैं -

यही हमारा समय है
मुंहफेरे शोर से बचाकर कुछ शब्द
मेज भर बसन्त
बौराने के बाद भी निष्फल आम वृक्ष
बीच-बीच में भजन की अनुगूंजता
दिवंगत मां का अपमान
यही हमारा समय है (यही हमारा समय है/तिनका-तिनका 1)

प्रेम और पवित्रता को अनदेखा कर देने वाले समय में आदमी यह नहीं समझ रहा कि जीवन का स्पन्दन और उसकी शाश्वतता इसी में कही है कर्फ्यू में ही नहीं। आदमी खण्डित होते जा रहे मूल्यों से ऐसे बेखबर हो गया है जैसे-

यह कर्फ्यू से झड़ी पुछी सड़क पर
इस बरस की लड़की का
खड़िया से खाका बनाकर बेखबर खेलना
बूढ़े का हर सुबह मृत्यु को धूल की
तहर बुहार कर
घूरे पर फेंकना
यहीं हमारा समय है। (तिनका-तिनका 2/349-350)

समय के धरातल पर समाज की स्थिति और उसके विकास और सब कुछ ठीक हो जाने की उम्मीद भी कवि के यहां मौजूद है -

उम्मीद की आखिरी बस की देर
तक प्रतीक्षा
यही हमारा समय है
यह सदियों का गलियों में बिल्लियों
की तरह धूमना
चिथड़ों की तरह सपनों का मोड़ पर
फड़फड़ाना
यही हमारा समय है। (वही-350)

आलोच्य कवि में प्रेम का कोमल स्पन्दन ही नहीं हैं जीवन को ढकते जा रहे कोहरे का वर्णन भी है और नष्ट होते जा रहे सृष्टि के आकर्षण का खुला एहसास भी -

आंगन भर धूप, धूल से ढंकी सी चांदनी
रूक-रूककर होती बारिश
बार-बार जलती बुझती आग
सहमकर बहती हवा
यही हमारा समय हैं। (वही-350)

नष्ट होती प्रकृति ओर जीवन में आ गये भारी तनाव को भी कवि ने पहचाना है। व्यक्ति से व्यक्ति के बीच गहरी होती खाई तथा टूटते हुए विश्वास और सर्वव्याप्त होती जा रही निर्लज्जता भी कवि दृष्टि के केन्द्र में व्यक्त हो रही है।

यह भरोसा ढहाकर किया गया अश्लील अट्टाहास
निर्लज्जता का दिग्विजय के अश्व पर देशाटन
आततायियों के तहखानों में सुरंग लगाकर पहुंचा आदिसत्य
यह बस्तियों के ऊपर घृणा के मेघाच्छादन
यही हमारा समय है। (वही-350)

समाज में सभी ओर फैल रही अमर्यादाओं की हवा, और दुष्टों के यहां कैद हो गये आदि सत्य को भी कवि ने बखूवी पहचाना है। समाज में घृणित राजनीति के कारण फैल रहे अविश्वास और भेदभाव को वह 'बस्तियों के ऊपर घृणा के 'मेघाच्छादन' कहकर अपने समय की पड़ताल कर रहा है। समाज में इतने गहरे भय बैठ गया है कि छोटी से छोटी खुशी के भी नष्ट होने का डर बढ़ता जा रहा है। कि दुख की अपार रेत में/ सुख के छोटे-छोटे एहसास भी पैने कंकड़ की तरह हो गये हैं, यह अपने समाज के यथार्थ की ऐसी खुली किताब है कि जिसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

समकालीन समाज से सीधे संवाद करती हुई अशोक वाजपेयी की सामाजिक सन्दर्भो से युक्त कविताएं समाज के यथार्थ चित्र को कहीं सीधी सपाटबयानी में व्यक्त करती है तो कहीं प्रतीकों बिम्बों का सहारा लेकर। अशोक वाजपेयी सामाजिक सन्दर्भो को व्यक्त करते हुए समय को भी कटघरे में खड़ा कर देते हैं। बीसवीं सदी के समाज की स्थिति को वे 'कितना बजा है' कविता में सत्रहवीं सदी के समाज से जोड़ते हुए पूँछ बैठते हैं-

कितना बजा है।
पूछता है सत्रहवीं शताब्दी के अंधेरे में
बुर्ज पर खड़ा पर चौकीदार
अपनी लालटेन की कम होती रोशनी में। (तिनका-तिनका 2/113)

इस कविता में आज के समाज का जीता जागता चित्र निर्मित हो रहा है। आज समाज में कोई संतुष्ट नहीं है न ही सुखी। देवता भी थक गये हैं, दुर्दान्त से और चीखने लग गये हैं जैसे उन्हें कहीं जाने की जल्दी है या वे भी यहां के माहौल से घबरा गये हैं, कोई सुखी नहीं है, न ही इस समाज में रहना चाहता है एक पलायन की प्रवृत्ति जो हमारे समाज में जीवन में घर बनाती जा रही है उसे कवि ने बहुत ही सहजता से व्यक्त किया है-

कुंजड़ियों के झगड़ों से त्रस्त
और अपनी स्कूली पुस्तकें कहीं न पाने
से दुखी
पैसा न होने के बावजूद ललचाता हुआ
एक बच्चा
जानना चाहता है एक मुस्तण्ड खरीददार से
कितना बजा है (वही-113)

मानो बच्चे का भी यहां से भर गया है जीवन इतना संकट ग्रस्त हो गया है कि सब घबरा रहे हैं और उतावले हो रहे हैं ऐसे में कवि भी इस सब से अलग बैठा नहीं देखता न ही उपदेश देकर पैगम्बर बनना चाहता है बल्कि वह भी समाज का हिस्सा है और जीवन की धुंध से घिरा भी है इस ऊहापोह में कवि भी कविता से पूछता है कितना बजा है मानो या तो कुछ ठीक होने की प्रतिक्षा है या सब कुछ नष्ट होने में कितनी देर है यह जानना चाहता है।

स्वाधीन भारत के पचास वर्षों में कितने मूल्य टूटे हैं। आदमी ने आदमी के खिलाफ कितने प्रपंच रचे है। समाज को नये-नये हथकण्डों से अपने वश में करने की कितनी और कैसी साजिशें रची गयी हैं? लोगों ने कैसे-कैसे वेश बदलकर समाज को राष्ट्र को छला है? फुसलाने के बहाने कैसे धोखा करके समाज की पीठ में छुरा भोंका है। राष्ट्र को, समाज को बर्बरता के आदिम युग में पहुंचाने के जो अमानवीय प्रयास किये गये हैं, अशोक वाजपेयी ने उन्हें बेनकाब करने की जोरदार पहल की है। यह कवि को 'देह और गेह' का कवि कहने वालों को पुनर्विचार करने के लिए कम नहीं है।

वे रथ पर आते हैं, अश्वारूढ़ होकर
आते हैं और कभी-कभी देखने को
निहत्थे आते हैं। वे पताकांए फहराते
आते हैं और कहते हैं कि हमें शताब्दियों
पहले की पवित्रता और शुद्धि पर वापस
जाना चाहिए। वे आते हैं व्यापारियों की
तरह और अपनी मनियारी सजाते हैं।
वे जाते हैं शताब्दियों पहले के अन्याय
का बदला लेने की बात करते हुए,
वे आते हैं कीर्तन करते हुए, वे आते हैं
भजन गाते हुए। फिर वे मारते हैं, फिर
वे तोड़ते हैं, फिर वे नष्ट करते हैं। (तिनका-तिनका 2/145)

कवि ने अनुसार हम बर्बर नहीं थे हमें बर्बर बनाया गया है यह समकालीन समाज का उसमें घट रहे सत्यों का ऐसा साक्षात्कार है कि इसकी यथार्थता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। फिर भी कवि होप करता है कि आदमी और उसके मूल्य बचे रहेंगे, उसकी आदमीयत बची रहेगी समाज बचा रहेगा 'थोड़ा सा'।

अगर बच सका
तो वही बचेगा
हम सबमें थोड़ा सा आदमी
जो रोब के सामने यही गिड़िगिड़ाता,
अपने बच्चे के नम्बर बढ़वाने नहीं जाता
मास्टर के घर,
जो रास्ते पर पड़े घायल को सब काम
छोड़कर
सबसे पहले अस्पताल पहुंचाने का
जतन करता है,
जो अपने सामने हुई वारदात की
गवाही देने से नहीं हिचकिचाता
अगर बच सका
तो वही बचेगा
हम सबमें थोड़ा सा आदमी। (तिनका-तिनका 1/311)

समाज के यथार्थ को पहचानते हुए आलोच्य कवि आशा करता है कि व्याप्त विसंगतियों और विदूपताओं के बाद भी समाज नष्ट नहीं होगा 'बर्वरता' सब कुछ निगल नहीं पायेगी। यही समाज में थोड़ा सा आदमी बचा जरूर रहेगा जो कवि की तरह अपने सामने घटी वारदातों की गवाही देने से नहीं हिचकिचायेगा।

प्राचीन कवियों की अनुगूँज

सामाजिक सच्चाईयों की बेड़ियों में जकड़ी समकालीन कविता यहां समय में बद्ध होकर यथार्थों के सींखचों से बाहर नहीं निकल पा रही है, वहीं अशोक वाजपेयी अपनी समकालीनता से स्वतंत्र अपने से बहुत आगे तथा अपने से बहुत पीछे के समय में भी अपने काव्य में टहल आते हैं। "भाषा में घरेलू लहजे के पुनराविष्कार ने सभी चीजों के प्रति नये कवि की दृष्टि में सूक्ष्म किन्तु बुनियादी परिवर्तन ला दिया है।"[1] उदाहरण के लिए दार्शनिक सवालों के प्रति समकालीन कविता के रूख को देखा जा सकता है जिसमें प्रकृति भी शामिल है। "दार्शनिक सवालों के प्रति भी कोई बौद्धिक और औपचारिक लहजा अपनाने की बजाय समकालीन कविता एक आत्मीय और अनौपचारिक लहजा अपनाती है।" जो इन कविताओं में भी भावात्मकता का संचार कर देता है। मध्यकाल में जो दार्शनिक कविता सहज और भावनात्मक रूप में 'कबीर' ने रची थी। समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी की कविता 'अमर मेरी काया' में भी वही दार्शनिकता और आत्मीय स्मृतियों को मिला जुला लोक प्रकट हो रहा है। जिसमें 'कबीर' की अनुगूँज स्पष्ट सुनाई दे रही है।

उसने बालू की भीत
और पवन के खम्भे पर टिके
अपने घर के ढहने पर
कोई अचम्भा नहीं किया (तिनका-तिनका/122)

यह बालू की भीत और पवन के खम्भे पर टिके जीवन रूपी घर का बिम्ब मध्यकाल से सीधे 'कबीर' से उठाया है। जो इस कविता में प्राचीन भाषा के साथ समकालीन कविता में गूंज रहा है। यह प्राचीन कवियों की अनुगूंज अशोक वाजपेयी की कविताओं यत्रतत्र सहज ही सुनायी पड़ती है। जो उनके अपने समय के आर-पार कविता में, भाषा में, बिम्बों में विचरण करने का प्रमाण है। जैसे -

उसका भोला मन
अपनी काया की अमरता न जानता था
और न ही उसे किसी निर्गुनिया की तरह
गा सकता था।

कविता में जीवन और मृत्यु की दार्शनिक अनुभूति की पकड़ और उसे सहज भाषा के उपक्रम द्वारा सम्प्रेषित करने की कवि की कोशिश प्रशंसनीय है। सबसे महत्वपूर्ण है शरीर की अमरता के रहस्य को लक्ष्य करते हुए 'कबीर' (निर्गुनिया) को कविता में आज प्रासंगिक करार देना तथा समकालीन काव्य में प्राचीन कवियों को ध्वनित करना और यह भी आत्मीय स्तर पर आज की कविता में एक बड़ा काम है। कबीर जैसे रहस्यवादी और समाजवादी कवि को अपनी कविता में शामिल कर अपना बना लेना सहज नहीं है -

अशोक वाजपेयी के काव्य लोक में प्राचीन कवियों की झलक नये अंदाज में दिखाई देती है जो समकालीन कविता के साथ घुल मिलकर ऐसे एकाकार हो जाती है कि पता ही नहीं चलता। यह कवि कौशल की ही देन है जो उनकी कविता में 'कबीर' के रहस्यवाद को ध्वनित करती है तो प्रेम में अंत के बाद रसखान की तरह "जो खग हो तो बसेरों करो नित कालिंदी कूल कदम्ब की डारन" वहीं लौटकर आना चाहती है,-

हो सकता है हम लौटे
पक्षी की तरह
और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें
या फिर थोड़ी सी बारिश के बाद
तुम्हारे घर के सामने छा गई हरियाली की तरह
वापस आएं हम
हो सकता है हम आएं
पलाश के पेड़ पर नई छाल की तरह (तिनका-तिनका 2/29-30)

इन पंक्तियों में रसखान की कोमल हट जैसे अशोक वाजपेयी के द्वारा नये रूप में प्रस्फुटित हो रही है। वहीं "जहां धूप मेरी अंजलि में यौवन की तरह एकत्र हो" जैसी पंक्ति पढ़ते हुए सूरदास के "यो जीवन अंजुरि को जल है" का स्मरण हो आता है तो यह शब्द के अर्थ विस्तार का ही एक आयाम है।"[1]

तुलसीदास द्वारा रामचरित मानस में वर्णित जीवन के आधारतत्वों और शरीर रचना में उनकी उपस्थिति की अनिवार्यता अशोक वाजपेयी की कविता

'अंत के बाद....1।[2] नये रूप में जीवन तत्वों से पुनः अंत के बाद जीवन अर्जित करने का प्रस्ताव कर रही है, किन्तु तुलसीदास इस कविता में सहज ही आधुनिक काव्य भाषा में फिट हो जाते है -

क्षिति जल पावक
गगन समीर से
फिर कहेंगे
चलो
हमको रूप दो
आकार दो (वही-31)

यहां 'तुलसी' की रचित मूल पंक्ति "क्षिति जल पावक गगन समीरा"[3] की मूल ध्वनि में इन जीवन तत्वों से पुनः जीवन देने के लिए कवि कह रहा है। जो तुलसी से थोड़ा आगे की बात है यह विकास और आधुनिक संदर्भों का प्रभाव है।

अशोक वाजपेयी प्राचीन ही नहीं आधुनिक श्रेष्ठ कवियों को भी आवश्यकतानुसार अपनी काव्य धारा में स्मरण करते हैं - जैसे 'हरी दूब' या हरीतिमा पर ओस बूँद जैसे बिम्बों में अज्ञेय को ध्वनित करते हैं तो सावन का दूसरा दिन में, जैसी कविताओं में रघुवीर सहाय की कविता को स्थान मिलता है। अतः अशोक वाजपेयी भाषा के ही धरातल पर पीछे से शब्द लाकर प्रतिष्ठित करते हो ऐसा नहीं है वे प्राचीन मध्यकालीन काव्य तथा समकालीन काव्य को भी पूर्ण आस्था के साथ समकालीन कविता में स्थान देते हैं। जिससे कविता और समृद्ध हुई है।

अशोक वाजपेयी की यह कविताएं जो 'पूर्वजों की अस्थियों' से शब्द उठा रही है। और समकालीन कविता में उन्हें पूरी आत्मीयता के साथ प्रतिष्ठित कर रही है, के मूल में इन्हीं प्राचीन कवियों का अर्न्तनाद समाहित है जो पहचानने से ही पहचान में आता है। वे प्राचीन से शब्द उठाकर आज की कविता में बहुत सावधानी से रख देते हैं -

हम उठाते है एक शब्द
और किसी पिछली शताब्दी का वाक्य विन्यास
विचलित होता है
हम खोलते हैं द्वार
और आवाज गूँजती है एक प्राचीन घर में कहीं।

इस तरह अशोक वाजपेयी की कविता में प्राचीन कवियों की साफ और समकालीन सन्दर्भ में प्रासंगिक अनुगूँज सुनाई दे रही है।

नये काव्य विषय

(मल्लिकार्जुन मंसूर और कुमार गंधर्व पर लिखी कविताएं)

समकालीन हिन्दी कविता में ऐसे तो कई विषय है जिन्हें सिर्फ अशोक वाजपेयी ने ही कविताओं में ही पहले पहल उठाया है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण है समकालीन कलाओं को, उनके मर्मज्ञों को, हिन्दी कविता में शामिल करना।

कविता और कलाओं की एक दूसरे से बेखबरी की ऐतिहासिकता को तोड़ते हुए अशोक वाजपेयी समूचे हिन्दी साहित्य में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी कविता के दरवाजे से समकालीन कलाओं को भी वैसे ही आने दिया जैसे जीवन को, समाज को और उसके अनेक व्यापारों, विसंगतियों को। कहा भी गया है कि "जीवन के, विशेषतः सृजनशीलता के क्षेत्र के, अनेक पक्ष ऐसे हैं, जो केवल अशोक की कविताओं में ही पर्याप्त है, समकालीन हिन्दी कविता में अन्यत्र वे लगभग हैं ही नहीं।"[1] यह 'कला' प्रेम अशोक वाजपेयी का नया नहीं है। (क्योंकि हमारे यहां बहुत से छद्मरचनाकार ऐसे भी हैं जो मौका देखकर विषय अपना लेते हैं।) 1966 में प्रकाशित अपने पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' के सृजन संदर्भों में जीवन और समाज के साथ कलाओं को भी स्थान दिया गया है। इस संग्रह की चार बहुमूल्य कविताएं हैं - हुसैन के एक चित्र की अचानक याद, अली अकबर खां का सरोद वादन 1 और 2 ओर खजुराहो जाने के पहले। जो आरम्भ से ही समकालीन कलाओं को अपने सृजन में प्रमुखता से व्यक्त कर रही है। इस सृजन से इस बात को पहली बार अशोक वाजपेयी ने हिन्दी कविता में पुख्ता किया, कि जीवन के सन्दर्भों की अभिव्यक्ति साहित्य के समान ही कलाओं में भी स्पंदित होती है। जैसे अली अकबर खां के सरोदवादन पर लिखी यह कविता -

खिड़की से एक पीला गुलाब रह-रहकर टकराता रहा वहीं वह झुकी खड़ी रोती रही मैं सुनता रहा ....

कोई अपनी उंगलियों से
कांपता काला आकाश
मेरी ओर खींचता रहा
खींचता रहा (तिनका-तिनका 1/78)

जीवन का यह अंतरंग स्पंदन समकालीन कविता में कलाओं के सृजन को शामिल कर रहा है। जो समकालीन कविता जगत की एक बड़ी घटना है और इस पर सार्थक विचार करना अनावश्यक नहीं आवश्यक है। कला से मेरा तात्पर्य समकालीन कलाकारों के कला स्पंदन से है किसी और बात से नहीं।

साहित्य भी एक कला है और इस नाते उसका अन्य कलाओं से भी अभिन्न संबंध है। साहित्य, चित्र, संगीत, नृत्य आदि सभी कलाएं अंततः मनुष्य के जीवन और उसके मनोभावों, विचारों अनुभवों आवश्यकताओं को ही व्यक्त करने के साधन है। और सब अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है। "साहित्य और कलाओं की एक दूसरे से बेखबरी के जो भी ऐतिहासिक कारण"[2] रहे हों पर हमारे यहां इस बेखबरी को समझने की शायद आवश्यकता ही कम महसूस की गई, जबकि साहित्य अन्य सभी कलाओं को अपने में अभिव्यक्त तो कर ही सकता है साथ ही लिखित शब्द के द्वारा उनका विश्लेषण सम्प्रेषण और संग्रहण भी कर सकने में पूर्णतः सक्षम है। साहित्य और समाज का एक दूसरे अटूट संबंध है, कहा गया है साहित्य समाज दर्पण है तो इस दर्पण में समाज के साथ-साथ उसमें ध्वनित, स्थापित और प्रवाहमान कलाओं के भी दर्शन होना आवश्यक नहीं है? क्योंकि कलाएं भी जीवन के साथ, मनुष्य के साथ अभिन्नता से संलग्न है। जैसे साहित्य, इसलिए साहित्य का अन्य कलाओं से संवाद होना, उनके यहां आना-जाना लगा रहना, जीवन के बहुमूल्य पक्षों को बचाये रखने के लिए आवश्यक है। "हमारे यहां ऐसी स्थिति है कि निरी समकालीनता की सीधी अभिव्यक्ति के कारण साहित्य और रूपंकर कलाएं अपने को संगीत या नृत्य से अधिक अग्रगामी और संघर्षशील मानने लगी है। असलियत यह है कि एक कुमार गंधर्व का संघर्ष एक मुक्तिबोध के संघर्ष से या एक अब्दुल करीम खां की साधना एक निराला की साधना से किसी भी कदर कमतर नहीं है। न केवल कलात्मक उपलब्धि, बल्कि संघर्ष भी।"[4] अतः साहित्य हो या संगीत जीवन का संघर्ष दोनों में विद्यमान होता है, इस अर्थ में जीवन से दामन बचाकर साहित्य या कलाएं नहीं निकल सकती। आज जब "कविताएं मानो प्रवचन, प्रचार-सामग्री, विज्ञापन, इश्तहार, हलफनामा, युद्ध, नृत्य, घोष या कि दलाली के सन्धिपत्र जैसी कुछ चीज बनाना ही चाहती दिखती है।"[5] कवि का अपने समकालीन संगीत सम्राटों को संगीत की बारीक अनुभूति के साथ कविता में चित्रित करना समकालीन कविता की असाधारण उपलब्धि ही है। अशोक वाजपेयी ने खजुराहो की कलात्मकता को अपने काव्य में संजोया है तो हुसैन और जगदीश स्वामीनाथन के चित्र भी

उनकी कविताओं से छूट नहीं पाये है।अली अकबर खां के सरोदवादन के तारों की स्वर लहरियां उनकी कविता में समाहित है तो 'कुमार गंधर्व' के अखिल ब्रह्माण्ड में गूंजने वाला अनहद नाद भी उनकी काव्य परिधि में प्रमुखता से ध्वनित हुआ है। मल्लिकार्जुन मंसूर पर तो लिखी उनकी कविताएं समकालीन कविता की धरोहर है। इस संबंध में कहा गया है कि "मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी कविता अपने समय के एक महान संगीतज्ञ को श्रद्धांजली भी है और उसके माध्यम से उनका व्यक्ति चित्र भी।"[6] जैसे-

वे मल्लिकार्जुन मंसूर हैं
वे धीर समय है
अविचल काल है
निश्चल होती हैं
वे बूढ़े ईश्वर की तरह सयाने पवित्र
एक बच्चे की फुरती से-
आते हैं
उंगली पकड़
हमें अनश्वरता के पड़ोस में ले जाते हैं (तिनका-तिनका 2/344)

"मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी कविता अपने समय के एक महान संगीतज्ञ को श्रद्धांजलि भी है और उसके माध्यम से उनका व्यक्ति चित्र भी।"[7] जैसे-

मल्लिकार्जुन मंसूर
अपने भरे पर फिर भी सीधे बुढ़ापे में
हलका सा झुककर रखते हैं
काल के कंधे पर अपना हाथ
ठिठककर सुलगाते हैं अपनी बीड़ी
चल पड़ते हैं फिर किसी अप्रत्याशित पड़ाव की ओर (वही-345)

इन कविताओं में "संगीत की बारीक पर्यवेक्षणा भी है और दया से हीन तथा महान मानव के सामने तुच्छ कुटिल ईश्वर की भर्त्सना भी।"[8] जैसे -

अपने लिए कुछ नहीं बटोरते उनके संत हाथ
सिर्फ लुटाते हैं सब कुछ
गुनगुनाते है पंखुरी पंखुरी सारा संसार
ईश्वर आ रहा होता घूमने इसी रास्ते

तो पहचान न पाता कि वह स्वयं है
या कि मल्लिकार्जुन मंसूर (वही-345)

हिन्दी के प्रसिद्ध निबंधकार कवि श्री विद्‌यानिवास मिश्र ने अशोक वाजपेयी की संगीत, चित्र, नृत्य आदि पर लिखी कविताओं को लेकर कहा है कि "ऐसी कविताएं भारतीय कविता में तो विरल हैं ही, विश्व कविता में भी विरल हैं।"[9] बहुरि अकेला खण्ड में संग्रहीत 'कुमार गंधर्व' की गायकी पर इक्कीस कविताएं "जितनी संगीत की आंतरिकता में भी प्रवेश करती है और उस प्रारूप से खुलती भी है।"[10] उतनी ही तीक्ष्ण रूप से कुमार गंधर्व की गायकी पर खोज भी करती है और मृत्यु से सूक्ष्म साक्षात्कार भी-

यह सयानी होती ढीली पड़ती त्वचा में
नवजात सी कंपकंपी क्यों
पतझरे वृक्ष की किसी दिगम्बर शाखा पर
एक किसलय की हरी सुगबगाहट कैसी?
यह मृत्यु की खोखली आंखों में
जासूस की तरह
ताक झांक करता जीवन कहां से? (वही-170)

"इस तरह बहुरि अकेला क्रम से अशोक वाजपेयी ने श्रद्धांजलि स्वरूप कुमार गंधर्व पर जो कविताएं लिखी है, वह बहुत मार्मिक तो हैं ही मृत्यु के बहाने जीवन की गहन पड़ताल भी है।"[11] जैसे-

मरने से पहले भी आते हैं
जीने में कितने स्थगन (वही-174)

बहुरि अकेला संग्रह की कविताओं में कवि एक तरफ मृत्यु से सम्वाद कर रहा है तो दूसरी ओर "गूढ़ दार्शनिक प्रश्न भी उठाता है और जीवन का उसे एक चरण मान अपदस्थ भी करता है।"[12] और हम झांक नहीं पाते/द्वार के पार/ हम देख नहीं पाते कि। एक द्वार खुला और फिर बंद हुआ/आग के आरपार"।[13] बहुरि अकेला खण्ड की कविताओं को भावप्रवण शोकगीत"[14] कहने और विदागीत कहने में कोई अंतर नहीं है, हिन्दी कविता में निराला की 'सरोज स्मृति' से इन विदागीतों की तुलना की जा सकती है। क्योंकि निराला और अशोक वाजपेयी का सरोजस्मृति और बहुरि अकेला के "बीच की इस लम्बी अवधि में किसी भी कवि के यहां ऐसी करूणापरक मगर मृत्यु का अर्थ तलाशती कविताएं नहीं है"[15] जैसे-

जो जाता है
थोड़ा-थोड़ा हमें भी ले जाता है
और इसलिए कभी
पूरी तरह से नहीं जाता है। ....
उम्मीद का अब कोई रंग नहीं है
जैसे हवा है
दुख है
यह वह न कर पाने का पश्चाताप है।
सब कुछ वैसा ही है
मानो कि कुछ हुआ ही न हो
या कि असंख्य में से सिर्फ एक घट गया हो।

(तिनका-तिनका 2/175, 189, 194)

मृत्यु को जीवन के बिम्ब से व्यक्त करने का यह ढंग समकालीन कविता की अनोखी धरोहर है मृत्यु में भी कवि जीवन और उसकी वस्तुओं को जीवित कर रहा है।

साकल खोलने कीचड़ सने जूते उतारने
छाता और लाठी कोने में धरने
गुनगुनाते यात्रा पर निकलने का
समय
अनंत का समय
आरम्भ का समय।

भाव की इस कठिन अभिव्यक्ति में भी गजब की सम्प्रेषणीयता और सरलता अतुलनीय है।

सम्पूर्ण हिन्दी कविता में जीवन और मृत्यु विषयों पर लिखी गई कविताओं की पड़ताल करें तो हम पाते हैं कबीर के बाद अशोक वाजपेयी की ये कविताएं दुरूह विषय पर होते हुए सरल सम्प्रेषणीय और भावों बिम्बों में समृद्ध भी है। कवि रोजमर्रा के जीवन से वस्तुएँ उठाकर उन्हें मृत्यु और जीवन के व्यक्त होने करने का माध्यम बनाता है जो उन कतिपय आलोचकों को दिखायी नहीं दिया है जिन्होंने इस कविता पर दुरूहता असम्प्रेषणीयता का आरोप लगाया है।

अतः "कविता की क्लासिकी के लिए बदनाम अशोक वाजपेयी का कवि रूपवादी होने का आरोप झेलकर भी उसके विन्यास को सुरक्षित रख पाया है

तो इसमें उसका कम हिन्दी कविता का हित ज्यादा है।"[16] कवि वह एकला व्यक्ति है जिसने समकालीन कविता में गहरे हस्तक्षेप के साथ-साथ संगीत, चित्र आदि कलाओं में भी हिन्दी कविता के प्रवेश की राह खोली है। वह भी इन कलाओं की गहरी समझ के साथ। खजुराहो, हुसैन के चित्र जगदीश स्वामीनाथन के चित्र, अली अकबर खां, कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर आदि को अपनी कविता का विषय बनाने वाला कवि पहला व्यक्ति है। इस अर्थ में इन कविताओं का मूल्य हिन्दी कविता के लिए किसी भी रूप में अन्य ज्वलंत विषयों से कम कर नहीं आंका जा सकता है।

मृत्यु और अनुपस्थिति

वकौल कवि "मुझे देहवादी, रीतिपरक और रति आक्रान्त कवि कहा गया है। अब्बल तो मैंने जितना प्रेम पर लिखा है लगभग उतना ही मृत्यु और अनुपस्थिति पर भी। जितना हर्ष उल्लास पर उतना ही विषाद और उदासी पर भी"[1] मुझे लगता है जैसे आलोचकों को अशोक वाजपेयी की कविताओं में मृत्यु और अनुपस्थिति, विषाद और उदासी दिखाई ही नहीं दी है पर क्यों? ऐसा तो नहीं कि लोगों ने कविताओं के इस जरूरी और विचारणीय विषय को जानबूझकर छोड़ दिया हो। खैर जो भी हो, कवि की कविता में जिस अंदाज में जीवन का स्पंदन चीजों, वस्तुओं से प्रकट होकर हमें प्रभावित करता है, उतनी ही मृत्यु भी। तिनका तिनका काव्य संग्रह की भूमिका में स्वयं कवि ने लिखा है "यह ठीक है कि मैं जीवन का, होने का, प्रेम और प्रकृति का उत्सव मनाता हूँ यह मेरी काव्य जिजीविषा का स्वभाव है। पर मेरी कविता सिर्फ यही नहीं करती है। वह अवसाद और अनुपस्थिति की नगण्यता और उदासी का भी अन्वेषण लगातार करती रही है।"[2] जैसे -

हम न होंगे
जीवन और उसका अनन्त स्पन्दन
कड़ी धूप में घास की हरीतिमा
प्रेम और मंदिरों का पुरातन स्थापत्य
अक्षर भाषा और सुन्दर कविताएं
इत्यादि लेकिन फिर भी सब होंगे
किलकारी उदासी और गान सब
बस हम न होंगे। (तिनका-तिनका 2/22)

कविता में अशोक वाजपेयी जब मृत्यु अवसान या प्रस्थान की बात करते हैं तो उनके यहां मृत्यु में भी दार्शनिकता के साथ-साथ उसके सहज और अनिवार्यता को भी कविताएं अपने भीतर से उद्घाटित करती है, मृत्यु जीवन से अलग कोई द्वीप नहीं है बल्कि जीवन का ही एक छोर, जिसे बहुत ही सहज भाव से अपने बिम्बों के द्वारा चित्रित किया है अनुपस्थिति को कवि नये कविता बिम्बों से ध्वनित करते हुए कहता है -

कोई नहीं देख पायगा
हमारा न होना
जैसे प्रार्थना में डूबी भीड़ से
लोप हो गए बच्चों को
कोई नहीं देख पाता। (वही-125)

कवि अपनी अंत विषयक कविताओं में फिर-फिर कर जीवन में लौटता है वह अपनी आखिरी उड़ान भरने से पहले। नीम की डाली पर बैठी चिड़िया के पास भी विचरण करता है। वह अन्तिम यात्रा में जाने के पूर्व अपनी जीवन स्मृतियों को जैसे छूकर देखता है, वह मृत्यु से डरता हरगिज नहीं है हां जीवन की वस्तुओं से हमेशा के लिए छूट जाने से उदास अवश्य होता है -

साथ क्यों नहीं जायगा हमारा बचपन
उसकी आकाश चढ़ती पतंगे (वही-23)

''मत्यु के बहाने की गहन पड़ताल करता हुआ यह कवि जीवन को सापेक्ष रखकर जैसे मृत्यु से भी संवाद कर रहा है। कभी वह जीवन की बहुत सी स्मृतियों वस्तुओं को साथ न ले जा पाने से अवसाद ग्रस्त होता है तो कभी हम सब कुछ छोड़कर/यहां से नहीं जाएंगे/साथ ले जायेगे/जीने की झंझट, धमासान और कचरा/सुकुमार स्मृतियां दुष्टाएं/ और कभी न कम पड़ने वाले शब्दों का बोझ आदि साथ ले जाने का दम्भ भी भरता है। फिर वह यह भी कहता है रसखान की तरह कि, हो सकता है हम लौटे/पक्षी की तरह/ और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें। यह लौटकर फिर वहीं आने की अदम्भय अकांक्षा कवि की जिजीविषा को व्यक्त करती है। इससे सहज ही यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन में यहां अभी भी बहुत कुछ बचा रह गया है, जो फिर से लौटकर आने को पुष्ट कर रहा है कवि मृत्यु के सभी पक्षों को विश्लेषित करने में सफल हुआ है जीवन के आखिरी छोर से जो कुछ दिखायी देता है वह उसे तो देख

ही रहा है साथ ही वह उस छोर के आगे भी देखने की प्रबल कोशिश करता है जैसे -

अंत के बाद
कुछ नहीं होगा
न वापसी
न रूपान्तर
न फिर कोई आरम्भ
अंत के बाद
सिर्फ अंत होगा। (तिनका-तिनका 2/33)

कविता में यह आम सच्चाई और उसमें सीधी-साधी भारतीय दार्शनिकता को बड़ी कुशलता से कवि ने व्यक्त किया है। कवि ने 'कहीं नहीं वहीं' संग्रह में जीवन और आध्यात्मिक अनुभूतियों को एक दूसरे में जिस तरह पिरोया है यह समकालीन कविता के इन चीजों से दूर होते समय में एक अद्भुत प्रवास हैं, जिसका बृहत स्तर पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

कुमार गंधर्व के अवसान पर लिखे विदागीत 'बहुरि अकेला' संग्रह में तो कवि ने हिन्दी काव्य में जैसे 'सरोजस्मृति' (निराला) से भी आगे निकलकर नई परम्परा की स्थापना की है। वह मृत्यु को देखकर कहता है "यह अभिषेक का समय है/जीने के धूल-धक्कड़/मैल कलुष को तजने का/समय" है यहां कबीर की तरह चदरिया ज्यों की त्यों धर दीन्ही का समय है "समय हवा की तरह हल्के होने का/जो कुछ किया धरा/उसे ज्यों का त्यों/उतारने का/समय" है। कवि जैसे हमारे अतीत और वर्तमान की सारी मान्यताओं को मिलाकर कुछ नया कहना चाह रहा है, पर जाने क्यों रह जाता है, फिर भी हमारी मृत्यु विषयक सारी अतीत की अनुभूतियों को वह आज के साथ लाकर खड़ा कर देता है, जो काव्य की उत्कृष्टता की परिचायक तो है ही भारतीय संस्कृति की पहचान भी है।

कवि ने मृत्युपरक कविताओं में जीवन की समाप्ति को कई कोणों से देखा है। इन कविताओं में कहीं मृत्यु का सहज वरण है तो कहीं उससे छीना झपटी, तो कहीं "विछोह के बाद प्रिय से सम्वाद" जैसी गूढ़ दार्शनिकता भी विद्यमान है। कवि ने जीवन और मृत्यु को एक दूसरे के बहुत पास से क्यों देखा है, क्योंकि "मृत्यु वस्तुतः जीवन का ही एक अनिवार्य चरण है उसमें विषाद क्या और उलझन क्या? वह तो महायात्रा है जहां मनुष्य का जीवन एक अध्याय

समाप्त कर दूसरे अध्याय की शुरूआत करता है।'' ''अनन्त का समय/आरम्भ का समय'' है। यहां मृत्यु कितनी सहज और वरेण्य बन पड़ी है। मृत्यु से तादात्मय स्थापित करते हुए कवि ने जीवन के बहुत मार्मिक चित्रों को उकेरा है। वरना आज के हिन्दी समाज में बहुत कम लोगों को फिक्र है कि कल यहाँ 'टुटही मेज' और बाल्टी बची रहेगी भी की नहीं।

आलोच्य कवि की कविताओं का कोई संग्रह ऐसा नहीं है जहां प्रेम हो, जीवन हो, श्रृंगार हो, पर मृत्यु पर आपको कविता न मिले। समकालीन कविता में शोकगीत की बात यदि की जाये तो अशोक वाजपेयी अकेले वह व्यक्ति है जिन्होंने यह साहस जुटाने की सामर्थ्य हासिल की। ''शोक में भी तोष लेने और देने की यह उदात्तता हिन्दी कविता में पहली बार दिखाई देती है जहां कवि दुख से कातर होकर व्यग्रता में विह्वल नहीं है, वरना नाना प्रकार के तर्कों से यह स्वयं को सन्तुष्ट करता है, धैर्य बंधाता है और एक तरह से स्वागत कर मृत्यु के आतंक को भेदता है उसे अनावृत करता है।''

विदा का कोई समय नहीं है
हर क्षण विदा है
जो बीतता है विदा लेता है
अक्सर बिना जाने भी (तिनका-तिनका 2/179)

अशोक वाजपेयी की ''मृत्यु विषयक कविताएं अपनी भावांजलि में भी इतनी सार्वजनिक से पगी है कि व्यक्ति तारतार हो जाता है।'' यह कविताएं पहली निगाह में ही जीवन की व्याख्या कर रही है। बीतने को कवि विदा कहता है और यहां मृत्यु की चर्चा नहीं करता। जबकि उस विदा के द्वारा वह मृत्यु को उसके जीवन में कई बार घटित होने की बात करता है। उसके लिए विदा नयी बात नहीं है कवि के लिए प्रत्येक बीतने वाला पल उसके अंत से दूरी कम होना है।

आलोच्य कवि जीवन की पूरी समग्रता में तो पहुंच रखता ही है, वह अंत और अनन्त के दरवाजों को भी खोलने की कोशिश करता दिखता है, यह जीवन की पूर्णता को कविता के केनवास में से समेटने का उपक्रम नहीं तो क्या है? कविता में वस्तुओं से जितनी अपेक्षा अभिव्यक्ति की जा सकती है, यहां मिलती है जीवन के सन्दर्भों के साथ में भी वस्तुएं साकार हो उठी हैं। यहां वस्तुएं-भी व्यक्ति की उपस्थिति अनुपस्थिति का एहसास करने लग जाती हैं यह कम बड़ी बात नहीं। अशोक वाजपेयी की मृत्यु और अनुपस्थिति पर लिखी कविताओं पर

जितना जहां कहा गया यह तो इन कविताओं का परिचय मात्र है, क्योंकि विषय की सीमाओं के कारण यहां ज्यादा लिख पाना संभव नहीं। अंत में यही कहूँगा कि अशोक वाजपेयी का काव्य संसार जीवन की विविधताओं और भिन्नताओं का संसार है, उसमें जीवन के सभी पक्ष गहरी अनुभूति के साथ अभिव्यक्त हुए है। अतः वे देह और गेह के ही कवि नहीं है वे अंत और अनन्त के भी कवि हैं।

निष्कर्ष

अशोक वाजपेयी के कविता संसार में हमें अनेक विविधताएं देखने को मिलती हैं। किन्तु घृणा, जुगुत्सा, हास-इतिहास विनोद भक्ति, बैराग्य अनेक महत्वपूर्ण बौद्धिक पक्ष उनके यहां अनुपस्थित हैं, "लेकिन तब भी उनकी कविता के संसार में भरपूर विविधता, विशदता और अभिरामता है। प्रत्येक पद मानों एक बिखरी स्वर लहरी सा सम्बद्ध रचना संगीत का उल्लसित अंग है। किसी नृत्यांगना के नृत्य निरत अंगों सा वह काव्य नृत्य का विशिष्ट और सम्यक हिस्सा है।" शब्दों का कविता में अधिकृत सहज और प्राणमय विन्यास समकालीन हिन्दी कविता में कम ही देखने को मिलता है। जैसा अशोक के यहां है।

अशोक वाजपेयी की काव्य यात्रा के सोपानों के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो केवल अशोक की ही कविता का विषय पहली बार बने हैं और "समकालीन हिन्दी कविता में अन्यत्र वे लगभग है ही नहीं।" कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर, जगदीश स्वामीनाथन, खजुराहो आदि पर भारत में लगभग वे पहले कविता लिखने वाले कवि हैं। इस मायने में वे विश्व स्तरीय व्यक्ति बन गये हैं।

अशोक वाजपेयी की कविताओं की सबसे महत्वपूर्ण और अहम विशेषता है कविता में भाषा के स्तर पर तद्भव के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति। बकौल कवि "मेरी कोशिश अपनी कविता में भाषा को याद करने की है।" जिसे लगभग हाशिये पर धकेल दिया गया है।

अशोक वाजपेयी मूलतः जीवन के स्वीकार के कवि हैं अस्वीकार के नहीं। किन्तु जिस अर्थ में उन्हें देह और गेह वादी कहा गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रेम और श्रृंगार के अलावा भी बहुत कुछ है जो बहुत मूल्यवान और श्रेष्ठतम है जिसमें मृत्यु और अनुपस्थिति पर लिखी कविताएं भी किसी दृष्टि से प्रेम और श्रृंगार पर लिखी कविताओं से अधिक हिन्दी काव्य को समृद्ध करती हैं। और उन्हें ही लगातार नजर अंदाज किया जा रहा है।

अशोक वाजपेयी ''की कविताएं उस तरह मनुष्य आक्रांत कविताएं नहीं है जिस तरह हिन्दी की अधिकांश कविताएं हैं।'' उनकी कविताएँ शाश्वत, मूलगामी आध्यात्मिक तो है ही साथ ही वे समकालीन मनुष्य समाज को पूरी तरह नहीं छोड़ देती, थोड़े स्तर पर ही सही 'जबरजोत' जैसी कविताओं में समाज भी ध्वनित हुआ है।

बहुरि अकेला खण्ड में जीवन और उसके विभिन्न आध्यात्मिक पक्षों पर दृष्टिपात करने की उन्होंने जो कोशिश की है वह समकालीन हिन्दी कविता में एक श्रेष्ठ प्रयास है। आरम्भ से ही कवि की कविताओं में मनुष्य और उसके मानवीय संबंधों की व्यापकता उनमें रही है।

पारिवारिक संबंधों स्मृतियों पर वे कविता लिखने वाले एक बड़े कवि हैं जिन्होंने माँ, बहिन, बेटी, पत्नि, बहू, बेटा, भाई आदि निकट संबंधों पर कविताएं लिखी है। कविता में एक भरापूरा घर बसाने की कोशिश आलोच्य कवि ने लगातार की है और किसी हद तक यह कोशिश उनकी सफल भी रही है।

निष्कर्षतः अशोक वाजपेयी की कविता संसार पर विहंगम दृष्टिपात करने पर जो तथ्य उभरकर सामने आते हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण है कि आलोच्य कवि श्रृंगार और प्रेम का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, अनुपस्थिति और मृत्यु भी खुलकर उसकी कविताओं में बोलती है। यदि एक तरफ वह कोमल सुकुमार भावनाओं में तल्लीन होकर संसार को स्पर्श करने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर 'बर्बर' होते जा रहे समाज का, राष्ट्र का चित्र भी वह खींचता है संगीतकारों, नृत्य, चित्रकला आदि पर वैचारिक और गहरी अनुभूति की कविता लिखकर उसने पहली बार भारतीय कविता में इन नये विषयों की आधार शिला भी रखी है जिसे साधारण समझकर नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

कवि केवल जातीय तौर पर अपने पुरखों के आस-पास मंडराता दिखाई नहीं देता है बल्कि वह हिन्दी कविता के पुरखों, हिन्दी भाषा के पुरखों के आसपास भी जाता है। और तद्भव के बरक्स तत्सम को रखता है। वह 'कबीर' सूर तुलसी जैसे प्राचीन कवियों को भी अपनी कविता में याद कर रहा है उनकी भाषा को याद कर रहा है तो अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय का प्रभाव भी उस पर है। अतः अशोक वाजपेयी की कविता बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक हिन्दी काव्य को चालू दौर से कहीं अधिक समृद्ध करने की क्षमता लिए एक प्राणवान अभिव्यक्ति का साक्ष्य है जो मूल्यवान और प्रभावी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तिनका तिनका (फिलिप से।)/भाग 1/अशोक वाजपेयी
2. " " "/वही
3. " " "/वही
4. पहचान सीरीज प्रथम अंक/संपादक अशोक वाजपेयी
5. आधुनिक हिन्दी कविता और आलोचना की द्वन्दात्मकता प्र/444/प्रो.कमला प्रसाद
6. कल्पना, 217 वां अंक (1969) सतीश जमाली का लेख/133
7. नयी कविता/कांति कुमार/35
8. " " "/वही/34
9. " " "/वही/35
10. " " "/वही/35
11. कल्पना 210 वां अंक 1969/133
12. आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य/इन्द्रनाथ मदान/57

प्रेम

1. थोड़ी सी जगह/फिलिप/अशोक वाजपेयी
2. साक्षात्कार/जनवरी मार्च/ मदन सोनी/531
3. शहर अब भी संभावना है/ बसंत दिन/अशोक वाजपेयी/18
4. थोड़ी सी जगह/अशोक वाजपेयी/फिलिप से
5. " " "/19
6. " " "/22
7. अन्तराल में/गोविन्द त्रिवेदी/35
8. हंस/ललित कार्तिकेय का लेख/100 वां अंक/नवम्बर दिसम्बर
9. " " "/वही
10. " " "/वही
11. साक्षात्कार/जनवरी मार्च/(95) सुषमा भटनागर/122
12. " " "/वही
13. " " "/123
14. " " "/124
15. घास में दुबका आकाश/अशोक वाजपेयी/124/भूमिका
16. थोड़ी सी जगह/अशोक वाजपेयी/57

परिवार

1. नयी कविता की भूमिका/प्रेम शंकर/58
2. " " "/वही/59
3. " " "/वही/59
4. नयी कविता की भूमिका/प्रेम शंकर/59
5. " " "/वही/60
6. " " "/वही/59
7. साक्षात्कार/जनवरी, मार्च (95)/पृ.108
8. नयी कविता की भूमिका/प्रेमशंकर/60
9. साक्षात्कार/सितंबर (95) पृ./56 (नंदकिशोर आचार्य का लेख)
10. " " "/वही/56
11. " " "/वही/56
12. " " "/वही/57
13. " " "/वही/57
14. " " "/वही/57
15. " " "/वही/"

भाषा में तत्सम की सर्जना

1. तिनका तिनका/भाग 1/भूमिका पृ. 16/अशोक वाजपेयी
2. " " "/वही/13,11
3. " " "/वही/"
4. " " "/वही/"
5. विषयान्तर/मदन सोनी/130
6. अगर इतने से/भूमिका/अशोक वाजपेयी
7. विषयान्तर/ मदन सोनी/131
8. " " "/वही/"
9. " " "/वही/131,132
10. " " "/वही/132
11. " " "/वही/"
12. " " "/वही/"
13. " " "/वही/"
14. साक्षात्कार सितंबर/96/57

15. " "   "/वही/"
16. " "   "/वही/61
17. " "   "/वही/-
18. " "   "/वही/62
19. तिनका तिनका भाग-1/भूमिका अशोक वाजपेयी

सामाजिक चेतना

1. तिनका तिनका भाग-1/187/अ.वा. (जबर जोत)
2 " "   "वही/189/अ.वा.
3. " "   "/वही/197/अ.वा.
4. तिनका तिनका भाग-2/350/" (यही हमारा समय है)
5. " "   "/वही/349/350"
6. " "   "/वही/350/"
7. " "   "/वही/कितना बजा है/113
8. " "   "/वही
9. " "   "/वही/बर्बर/145
10. तिनका तिनका भाग-1/अशोक वाजपेयी/थोड़ा सा/311

प्राचीन कवियों की अनुगूंज

1. साक्षात्कार सितम्बर-96-57 (नंदकिशोर आचार्य)/57
2. " "   "/वही/58/"
3. " "   "/वही/61"
4. तिनका तिनका/भाग 1/122 (अमर मेरी काया) अशोक वाजपेयी/किताब पर प्रकाशन
5. " "   "/122/"
6. तिनका तिनका भाग-2/वापसी/29-30/"
7. " "   "/वही/अंत के बाद-1/"
8. तिनका तिनका भाग-1/234/"   "

नये काव्य विषय

1. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/115 पंकज का लेख
2. तिनका तिनका-1/78/अशोक वाजपेयी
3. समय से बाहर/अशोक वाजपेयी/19
4. " "   "/वही/21

5. साक्षात्कार/जनवरी मार्च/95/115
6. साक्षात्कार/जनवरी मार्च/95/115
7. " " "/वही/131
8. " " "/वही/"
9. " " "/वही/133
10. " " "/वही/"
11. " " "/वही/132
12. " " "/वही/"
13. तिनका तिनका भाग-2/176 अशोक वाजपेयी
14. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/132
15. " " "/वही/"
16. " " "/वही/135

मृत्यु अनुपस्थिति

1. तिनका तिनका भाग-/भूमिका/अशोक वाजपेयी
2. " " वही "
3. " " "/भाग 21/22
4. " " "/25
5. " " "/20
6. " " "/23
7. साक्षात्कार जनवरी मार्च/95/132
8. तिनका तिनका/2/26 सब कुछ छोड़कर नहीं जायेगे
9. " " "/वापसी/29
10. " " "/अंत के बाद-29-33
11. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/132
12. " " वही/पृ./133
13. तिनका तिनका-2/बहुरि अकेला/पृ./196
14. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/पृ./133
15. तिनका तिनका-2/बहुरि अकेला/179
16. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/135

आलोचना के नये दायरे

(अ) अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य
(ब) अशोक वाजपेयी का आलोचना साहित्य
1. फिलहाल
2. कुछ पूर्वग्रह
3. समय से बाहर
(स) अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा

पिछले चालीस वर्षों से लगातार वाजपेयी का नाम हिन्दी साहित्य के विविध परिदृश्य में एक सक्रिय हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। सन् साठ के दशक से आरम्भ हुई उनकी साहित्य यात्रा में कविता, आलोचना और कलाएं शामिल रही है। कविता और आलोचना के मौलिक ग्रंथों के अलावा उनकी बृहत संपादन परम्परा ने समूचे हिन्दी जगत में अपनी उपस्थिति की सार्थकता सिद्ध की है और हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा भी दी है।

अशोक वाजपेयी के यहां कविता और आलोचना पहली बार उन अनेक क्षेत्रों में गयी है, जहां इसके पहले वह कभी नहीं गयी थी। कविता में जहां उन्होंने जीवन के विभिन्न अनछुये पहलुओं को पर्याप्त जगह दी है वहीं उन्होंने आलोचना में जरूरी संघर्ष करके नयी समझ विकसित की है। समवेत और पहचान सीरीज से शुरू हुई उनकी सम्पादन की समृद्ध और बहुआयामी परम्परा लगातार हिन्दी जगत में चर्चा का विषय रही है और यह क्रम आज भी जारी है अपने प्रशासनिक दायित्वों के साथ-साथ साहित्य के लिए समाज के लिए इतना कुछ कर पाना उनके साहित्यकार नहीं कर सक्रिय साहित्यकार होने को दर्शाता है। अशोक वाजपेयी किताब लिखकर बैठने वालों में से नहीं हैं न ही किसी एक विद्या के अनुयायी ही हैं उन्होंने कविता और आलोचना दोनों विधाओं में पर्याप्त से भी कुछ अधिक हस्तक्षेप किया है। पिछले चालीस वर्षों में अशोक

वाजपेयी की कविता ने एक लम्बा रास्ता तय किया है तो उनकी आलोचना को भी हिन्दी साहित्य में गहरा और मान्य हस्तक्षेप माना गया है। अशोक के सम्पूर्ण साहित्य को विश्लेषित करने के लिए वर्गीकृत करना आवश्यक है।

1. अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य
2. अशोक वाजपेयी का आलोचना साहित्य
3. अशोक वाजपेयी की संपादन परम्परा

अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य

साठ के दशक से आरम्भ हुई अशोक वाजपेयी की साहित्यिक यात्रा का आरम्भ कविता से हुआ था। शुरू से ही युवा कवि अशोक की रचनाएं कल्पना, ज्ञानोदय, वसुधा, युगवाणी आदि उस समय की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में जल्द ही स्थान पा गयी थी। सन् 1966 में उनका पहला काव्य संग्रह शहर अब भी संभावना है 'भारतीय ज्ञान पीठ' से प्रकाशित हुआ। यह काव्य संग्रह अशोक वाजपेयी की हिन्दी कविता में पहचान का संग्रह है। इससे अशोक वाजपेयी की हिन्दी जगत में एक कवि के रूप में पहचान हुई।

कवि आलोचक विष्णु खरे ने इस काव्य संग्रह पर टिप्पणी करते हुए लिखा है। "अशोक वाजपेयी के कविता संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' की रचनाओं को तीन बड़े शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है प्रेम, लोग तथा प्रकृति।"[1] विष्णु खरे के दिये शीर्षकों में जीवन और उसकी वस्तुएं भी जोड़ दी जाये तो बात पूरी हो जाती है क्योंकि अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण काव्य से यह विशेषताएं अलग नहीं की जा सकती है। डॉ. अशोक वाजपेयी के काव्य विकास में उत्तरोत्तर नये विषय और क्षेत्र शामिल अवश्य किये गये है। यहां एक प्रश्न उठना जरूरी है कि क्या कारण है कि अशोक वाजपेयी की कविता चालू मुहावरों और सरलीकरणों से दूर होते हुए भी निरंतर हिन्दी जगत के आकर्षण के चर्चा का केन्द्र बनी रही है? इसका पहला कारण तो यह है कि अशोक वाजपेयी की काव्य चेतना में अनेक विषय नये और लगभग हिन्दी कविता में पहली बार उठाये गये हैं। प्रेम और श्रृंगार पर तो हमारे यहां इतना लिखा गया है कि अब लिखने को शायद कुछ बचा ही नहीं जैसा है, किन्तु अशोक वाजपेयी ने अपने काव्य के केन्द्र में प्रेम और श्रृंगार की जिस कोमल स्पर्श अनुभूति और संवेदना का परिचय कराया है वह एकदम नयी है। हमारे यहां 'शमशेर' जैसे कवियों ने भी प्रेम और श्रृंगार पर खूब लिखा है किन्तु वे चाक्षुष संवेदन तक ही सीमित रहे, जबकि

अशोक उससे भी आगे पहुंचे है और वह भी किसी विकृति में पूरी तरह बचकर एक स्वाभाविकता, जीवंतता और जीवन के सन्दर्भों को परिभाषित करते हुए। अशोक वाजपेयी की कविताओं में जीवन जगत के जिन पक्षों, प्रश्नों को केन्द्रीय रूप में उठाया है वे समकालीन समाज की, जीवन की आवश्यकता है।

आलोच्य कवि के कविता में प्रवेश का या पहचान का समय हमारे देश में, साहित्य में, समाज में मोहभंग का,निराशा का, टूटन का सपनों के विस्तीर्ण होने का समय था। ऐसे विपरीत समय में एक युवा कवि के आक्रोश, विरोध, निराशा चीख पुकार के विरूद्ध शांत शब्दों में जीवन की आस लगाये रखना, सब कुछ ठीक हो जाने की संभावना तलाश करना भी लगभग असंभव हो गया था। किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता का आरम्भ ही इसी संभावना के साथ होता है।

श्रृंगार को लेकर अशोक वाजपेयी की कविता के प्रति लोगों में बड़ा भ्रम व्याप्त है, इसी भ्रम में पड़कर लोगों ने उन पर तरह-तरह के आरोप भी लगाये हैं। किन्तु में यहां एक बात साफ करना चाहता हूं कि श्रृंगार और प्रेम अशोक वाजपेयी की कविता का केन्द्रीय तत्व जरूर है, किन्तु ऐसा नहीं है कि इसके अलावा उनके काव्य परिदृश्य में और कुछ मूल्यवान है ही नहीं। ''अशोक वाजपेयी की रागात्मक कविताओं में माता करूणा की थीम नयी कविता की शायद ऐतिहासिक वस्तु है। एक आसन्न प्रसवा माँ के लिए तीन गीत' अपने अछूते विषय के लिये ही पढ़े जायेगे।''[2] कवि अपने काव्य संसार में स्त्री-पुरूष प्रेम के ही प्रति, विह्वल नहीं है, वह अपने परिवार के प्रति, घर के प्रति, मुहल्ले के प्रति भी गहरा जुड़ा दिखायी देता है। उसके काव्य में मां, पिता, बहिन, भाई पड़ोस भी पूरी केन्द्रीयता से ध्वनित हो रहा है।

अशोक वाजपेयी की मां पर लिखी कविताओं में हमे 'इलियट' की अनुगूंज सुनायी देती है। जो महत्वपूर्ण है और अनदेखी नहीं की जा सकती। गोपालगंज सागर के आस पड़ोस, बकौली, कठचंदन के पेड़ो की खुशबू से लेकर अशोक वाजपेयी की कविता सुदूर 'आविन्यो' तक पसरी है। उसमें लोग, वस्तुएं और स्मृतियों की जीवंत उपस्थिति है। अशोक वाजपेयी एक मात्र अकेला नाम है। हिन्दी कविता में कि जिसमें ''कहीं भी वह आक्रोश, समाजद्रोह अथवा मूल्यद्रोह नहीं मिलता जिसे आज के अधिकांश कविताकार 'स्टीरियोटाइप' और किलशे बनाते जा रहे हैं। कविता के लिए समाज एक दुधारी तलवार है उसका सामाजिक होना एक सुविधा भी है और असुविधा भी। लगता है अशोक वाजपेयी ने समाज

में होते हुए भी समाज में न होने के तनाव को खूब महसूस किया है किन्तु उसे कभी भी अपनी कविता को तोड़ने की अनुमति नहीं दी है।"[3] उनकी कविता इसकी गवाह है। मनुष्य से मनुष्य और मानव समाज का संतुलन कायम रखने के लिए वह आवश्यक है कि चेतना के आदिम और अधुनातन स्तरों के बीच संबंध बना रहे। "विरूद्धों के बीच सामंजस्य करने वाली कविता की यह भूमिका" अशोक वाजपेयी की कविताओं में बड़ी उत्कटता से व्यक्त की गयी है। "आधुनिक सभ्यता की प्रवृत्ति संस्कृतियों के समतलीकरण की है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी जगहों की कविता एक सरीखे तनावों संशयों और अन्तर्द्वन्दों से जूझ रही है कमोवेश एक सीखी हताशा, अनास्था के दबाव में ढल रही है। किन्तु क्या वास्तव में ऐसा है?"[4] अशोक वाजपेयी की कविता प्रेरणा को समझने के लिए इस तरह के प्रश्नों का सामना करना आवश्यक है। क्योंकि "अशोक वाजपेयी अपनी पीढ़ी के उन थोड़े से कवियों में है जिन्होंने न केवल नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को अपने कविकर्म और आलोचना चिंतन से निभाने और बखानने की, बल्कि समकालीनता की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उस दायित्व को मनुष्य के चराचर परिवेश से और परम्परा से भी काफी सचेत ढंग से जोड़ने की कोशिश की है।"[5]

अशोक वाजपेयी की कविता किसी भी आन्दोलन से बाहर की कविता है वह सभी आन्दोलनों प्रवृत्तियों के आर-पार की कविता है उनकी कविता में एक ओर पृथ्वी है दूसरी ओर आकाश। उनकी "कविता में एक ओर की पार्थिव और घरेलू बिम्बों की बहुतायत है दूसरी ओर देवता, पुरखे, नक्षत्र, अनन्त जैसे शब्दों से संकेतिक होने वाले सांस्कृतिक अभिप्राय है।"[6] उन वनस्पतियों, समुद्रों और लोगों से घिरी पूरी पृथ्वी चाहिए उसके लिए "एक छोटा सा घर काफी नहीं है।" इस तरह अशोक वाजपेयी की कविता समूचे ब्रह्माण्ड से घरेलू संबंध स्थापित करती है।

आलोच्य कवि की कवि चेतना "एक विशेष अर्थ में सजग और दुहरी चेतना है उनमें प्राचीन और अर्वाचीन आदिम और सभ्य स्तर पर आना और जुड़ना हीं नहीं, एक साथ झंकृत भी होना चाहते है।[7] और हो भी रहे है। अशोक वाजपेयी की कविता समूचे ब्रह्माण्ड को घरेलू बना लेने की ठेठ हिन्दुस्तानी जिद" ही नहीं करती बल्कि वह दार्शनिक, धार्मिक असंगतियों विसंगतियों भी जगह उभारती है।

अशोक वाजपेयी की कविता में एक खास तरह का द्वन्द्व है ठीक वैसा ही जैसा "लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस के अंतर्गत विजयदेव नारायण ने जिस अपराजेयता विवशता और अपराजित संकल्प की बात सत्याग्रह युग के सन्दर्भ में कहीं थी, उसके कई लक्षण हम परवर्ती युग में भी पहचान सकते हैं निश्चय ही यह अशोक वाजपेयी के कवित्व की भी अपराजेय विवशता है अपने असाध्य रोमानी और अतिक्रमण शील कवि स्वभाव के बाबजूद बारम्बार इस 'उद्दण्ड समय' की 'हरकतों' से घिर जाने की, न केवल घिर जाने की बल्कि उन्हें अपनी कविता के भीतर भी घुसपैठ करने देने की, देखा जाने तो इस मामले में भी उनकी अवस्थिति कहीं अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा के बीच की जान पड़ती है जिसमें श्रीकान्त वर्मा की खींच कुछ ज्यादा प्रबल है।"[8] हालाकि श्रीकान्त वर्मा और अशोक वाजपेयी के कवि स्वभाव में पर्याप्त अन्तर है। अशोक वाजपेयी अपने काव्य से शब्द सम्वेदना, शब्द चयन, सांस्कृतिक अनुगूंजों और अर्थ छटाओं के मामले में श्रीकांत वर्मा से आते हैं और उनसे भारी थी। जैसे रघुवीर सहाय के यहां कविता जीने का उसके आशयों को आत्मसात् करने और सोचने का ढंग है ठीक वैसे ही अशोक वाजपेयी के यहां भी कविता जीने का उसके आशयों को आत्मसात् करने और सोचने का ढंग है। "साठोत्तरी कविता की निश्चय ही कविता के क्षेत्र में यह विशेष उपलब्धि है कि कुछ लेखकों ने इसकी विषय वस्तु और रूप में वृद्धि और विकास किया।"[9] इसमें अशोक वाजपेयी की कविता की उपलब्धि सर्वाधिक है। वे किसी छदम रास्ते अपनाकर स्थापित नहीं होना चाहते बल्कि कविता को जीवन की तरह रखते हैं शांत और विनम्र। अशोक वाजपेयी के काव्य में व्याप्त स्तरीय शब्द और भाषा की अनुगूंज उन्हें उनके समकालीनों में विशिष्ट बनाती है।

वागीश शुक्ल ने अशोक वाजपेयी के काव्य पर प्रश्न उठाते हुए कहा है "क्या अशोक वाजपेयी श्रृंगार रस के कवि हैं? इसके जबाव में स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन का काव्य है, उसके अनेक पक्षों का सार्थक अध्ययन है, जिसमें जीवन की संवेदना है, और उसके छोटे-छोटे सत्यों को कविता का आधार दिया गया है। यह काव्य जीवन की अशक्ति का काव्य है, मृत्यु से सामना करने का उससे आँख मिलाकर बात करने का भी काव्य है। कुल मिलाकर अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य जीवन के धड़कते हुए विविध परिदृश्यों का भाषा में श्रेष्ठ और नवीनतम विश्लेषण का काव्य है।

अशोक वाजपेयी के काव्य साहित्य का किसी एक विषय की बहुलता का काव्य कहना उचित नहीं है उन पर इस तरह का आरोप निराधार है। उन्होंने

जितना श्रृंगार और प्रेम पर लिखा है उससे कहीं अधिक उन्होंने मृत्यु पर लिखा है जीवन और मृत्यु भले ही व्यावहारिक दुनिया के सत्य है किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता दोनों को जीवन में ही देखती मृत्यु के साक्षात्कार विषयक कविताओं में उनके यहां एक विशेष तरह की भक्ति और आध्यात्म भी उपस्थित है। कविता में हमें प्राचीन नवीन और समकालीन काव्य की झलक भी लगातार मिलती है उनकी कविताएं पढ़कर ही पता लगता है कि वे काव्य की दुनिया में सचमुच जीत है, सोचते है, अनुभव करते हैं कल्पना करते हैं और रचते है यानि कविताएं ही उनके सचमुच बौद्धिक होने को प्रमाणित करती है उनसे ही पता चलता है कि उन्होंने कालिदास, दंडी, माध, भास (कबीर तुलसी रसखान) आदि को न केवल पढ़ा है बल्कि उनके काव्य संवेदनों को आत्मावयव बनाया है और प्रसाद, निराला पंत को भी तथा अज्ञेय, रघुवीर, सहाय, शमशेर त्रिलोचन, मुक्तिबोध और श्रीकांत वर्मा को भी साथ ही अनेक अंग्रेजी तथा यूरोपीय कवियों को भी।"[10] इस तरह "संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के सैकड़ों कवियों के काव्य पदों तथा काव्य प्रतिमाओं का अर्थ वहन और अर्थ परम्परा-विस्तारण अशोक की कविताओं में है।[11] इसी कारण अशोक वाजपेयी का काव्य संसार समकालीन समाज तक ही सीमित नहीं है वह उससे बहुत पीछे और बहुत आगे तक के समय को अपने में ध्वनित करता है। अशोक वाजपेयी की कविता में प्राचीन भारतीय संस्कृति की छवियाँ भी इसी आधार पर गहरे अनुभूत होती हैं।

समूचे हिन्दी काव्य संसार में अशोक वाजपेयी अकेले रचनाकार हैं जिनके काव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनेक विख्यात भारतीय और यूरोपीय कवियों, चित्रकारों संगीतज्ञों, नर्तक, नर्तकियों, चिंतकों तथा सृजन कर्मियों को भी पूरी सक्रियता से स्थान दिया गया है और कविता में नये तथा पहली बार आये विषयों को शामिल किया गया हैं।

"अशोक वाजपेयी की काव्य प्रतिमाओं का विस्तार विशद् है। उनमें रूप, रंग की विविधता तो है ही ध्वन्यर्थों, शब्दों, क्रीड़ाओं, अर्थच्छटाओं और व्यंजनाओं की भी विपुल अभिरामता है।"[12] "अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता के "उन थोड़े से विरल हिन्दी कवियों में हैं जिनके होने से कविता की एक जीवित सभ्यता पुनर्सम्भव है। काव्य सभ्यता को 'पुनर्नवा करने में अज्ञेय और रघुवीर सहाय के बाद जिन आठ दस लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है उनमें से एक हैं अशोक वाजपेयी"[13]

एक कवि के प्रशासनिक और राजनैतिक आस्थाओं पर हिन्दी साहित्य के लोगों ने खूब प्रकाश डाला है, किन्तु उसके रचना कार्य को लोगों के लिए नहीं

लिया जबकि अशोक वाजपेयी ही नहीं उनके "बहुत से समकालीन कवियों की राजनैतिक आस्थाएं घोषित रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु ऐसा नहीं लगता है कि उनकी काव्य सरंचना या भाषिक व्यवहार को प्रभावित कर रही हैं। भाषा को उसकी सहज विश्वसनीयता को लौटाने को कोशिश इन सभी कवियों का रचनात्मक संघर्ष है। यह कोशिश भाषा में सामाजिक पारिवारिक और अन्तर्वैयक्तिक आत्मीयता को लौटाने की कोशिश है जो असद जैदी या मंगलेश डबराल में भी उतनी ही मिलती है जितनी प्रयाग शुक्ल या अशोक वाजपेयी या चन्द्रकांत देवताले में।"[14]

अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य "उनकी विशिष्ट काव्यात्मक दृक शक्ति का प्रमाण देता है उनकी काव्य दृष्टि अत्यंत है"[15] सूर्य, आकाश, पृथ्वी, प्रकृति पास-पड़ोस, विश्व,ब्रह्माण्ड, माँ, प्रेमिका, बेटी, बहिन, पिता पूर्वज, देह, आत्मा, संगीतज्ञ, संगीतज्ञ, नर्तकी,चित्रकार, कविगण, संगीत, नृत्य,चित्र कविताएं नाद, शब्द समय अनन्त,पेड़ धूप, चिड़िया,घास नदी, पहाड़, प्रकाश, अंधकार जीवन, पुनर्जन्म, जन्मांतर, घर, जानवर, फल, फूल, विदाई, पुस्तके, बाद्य यंत्र आदि की अशोक वाजपेयी की कविताओं में जीवंत उपस्थिति है। आक्रामकता, बड़बोलापन और उग्रता जब हिन्दी कविता को लील रही थी, लग रहा था एक ही कवि अनेकों नामों से कविता लिख रहा है, ऐसे खतरनाक समय में अशोक वाजपेयी ने जीवन को, कविता को संसद संविधान और लोकतंत्र के विरूद्ध चालू सरलीकरणों से हटकर देखा, और बिना चीख पुकार के जीवन के उन पक्षों को अभिव्यक्ति दी जिनके लिए हिन्दी कविता में जगह खत्म हो गयी थी, या जिन्हें महत्वहीन मानकर पददलित कर दिया गया था। 'प्रेम और श्रृंगार को उसी चीख पुकार और आक्रोश विरोध की जगह रखने की हिम्मत अशोक वाजपेयी ने दिखलायी। यह वह समय था जब जीवन की रंगारंग स्थिति हिन्दी कविता से दूर जा चुकी थी। जबकि अशोक वाजपेयी की कविता को उसके अर्न्तमन में उतर के स्पर्श करती है, उसे अपने यहां सहारा देती है। "सामाजिक पारिवारिक आत्मीयता के छीजते चले जाने के माहोल में ये कविताएं विशफुल थिंकिंग नहीं बल्कि गहरी वेदना से प्रसूत होती दिखायी देती हैं और इसलिए हमें किसी कृत्रिम आशावाद की ओर ले जाने या निराशा के गहरे अंतराल में ढकेलने की बजाय एक मानव विरोधी परिवेश में मनुष्य बन कर खड़े रहने की ताकत देती हैं।"[16] यह कोई संयोग नहीं है कि समकालीन कविता में नयी पुरानी पीढ़ी के अधिकांश कवियों में घर की स्मृति, उसकी तलाश की छटपटाहट हमें देखने को

मिलती है। घर की स्मृति और छटपटाहट से कवि की रिश्तों के प्रति व्याकुलता व्यक्त होती है। यह व्याकुलता मंगलेश डबराल, प्रभात त्रिपाठी, रघुवीर सहाय और अज्ञेय में भी देखी जा सकती है। अशोक वाजपेयी ने घर, उसकी वस्तुओं, रिश्तों और स्मृतियों को हिन्दी कविता में सबसे अधिक जगह दी है। इस आधुनिकतावादी जीवन संघर्ष में जहां आत्मीयता और घरेलूपन का बोध लगभग खारिज कर दिया गया है, अशोक वाजपेयी की कविताएं मानवीय रिश्तों के अवमूल्यन के खिलाफ एक रचनात्मक संघर्ष की स्थिति निर्मित कर रही हैं। उनकी काव्य भाषा समकालीन संसद संविधान और जीवन के सरलीकरणों की भाषा नहीं है अशोक वाजपेयी की कविता में भाषा तत्सम शब्दों की कोमलतम और सार्थक प्रयोग की भाषा है।

कविता में, भाषा में और साहित्य में, अशोक वाजपेयी के यहां हमें 'पुरखों' की स्मृतियों के कई अवसर मिलते हैं जैसे भाषा उनके यहां पुनः प्रकट हो रही है, और कविता में पुरखों की उपस्थिति की सार्थक है जीवन और मृत्यु दोनों को अशोक वाजपेयी के काव य में पर्याप्त स्थान दिया गया है 'बहुरि अकेला' खण्ड की कविताओं में एक खास तरह की आध्यात्मिक चेतना भी सुनाई देती है जो उनके काव्य संसार का मूल्यवान पक्ष है। अशोक वाजपेयी के काव्य में 'इलियट' आदि पश्चिम का प्रभाव होते हुए भी उनके यहां ईश्वर की मृत्यु नहीं हुई है।

इस तरह विगत 40 वर्षों की काव्य साधना के आधार पर कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन और उसके विभिन्न सन्दर्भों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जीवन के प्रति आसक्ति का काव्य है, जिसमें भाषा की नवीनता और प्राचीनता की सार्थक अनुगूंज हमें सुनायी देती है। साठोत्तर हिन्दी कविता में जहां प्रकृति, प्रेम और श्रृंगार सब बहिष्कृत कर दिया गया था यहां जीवंत उपस्थिति पुनः बहाल की गयी है।

पारिवारिक रिश्तों आदि पर अशोक वाजपेयी के काव्य में सर्वाधिक कविताएं लिखी गयी हैं किन्तु उनके यहां 'माँ' पर लिखी गयी कविताएं हिन्दी कविता की धरोहर हैं। भाषा में तत्सम शब्दों की पुर्नस्थापना अशोक वाजपेयी के काव्य का गौरवपूर्ण पक्ष है।

प्रेम और श्रृंगार में वे शमशेर से आगे हैं। निष्कर्षतः अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य स्वतंत्रोत्तर हिन्दी कविता की श्रेष्ठतम उपलब्धिओं में से एक है। जिसमें अनेक स्तर पर नयी देखने को मिलती है। अशोक वाजपेयी की कविता

जीवन की इसी टूटी-फूटी विद्रूपता में जीवन की आस की कविता की सार्थकता की जीवित अभिव्यक्ति है। उनके काव्य में जीवन और साहित्य के अनेक मूल्यवान पक्ष हिन्दी कविता में पहली बार हमें दिखायी देते है। जिन्हें गैर जरूरी समझ कर छोड़ दिया गया था।

इस तरह अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य हिन्दी कविता की समृद्धि का काव्य का है जीवन के छोटे-छोटे सत्यों को भी इसमें पर्याप्त और इधर की कविता में सर्वाधिक जगह दी गई है अतः भाषा, विषय, और मानवीय संवेदना के आधार पर अशोक वाजपेयी का काव्य हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अशोक वाजपेयी का आलोचना साहित्य

''आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर पाना मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है। आलोचना की सृजनात्मक उड़ाने कविता में कल्पना की उड़ानों में कल्पना की उड़ानों से किस कदर कम हो? एक बड़ी थीम को लेकर लिखी गयी कविता का स्थापत्य और रेहटारिक कुशल बनावट और पच्चीकारी उस आलोचना में भी तो पायी जा सकती है जो रचना के भीतर से निकलने वाले प्रश्नों को संवेदना और दृष्टि के एक बड़े फलक पर पूरी विविधता के साथ प्रोजेक्ट करती है।''[17]

संवाद और एकालाप में मलयज की यह टिप्पणी अशोक वाजपेयी की आलोचना को परिभाषित करती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना का आरंभ 'फिलहाल' (1970) से हुआ। फिलहाल की आलोचना के आरम्भ में दृश्यालेख में उन्होंने लिखा है कि ''आलोचना समकालीन कविता को समझने बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने अहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की कोशिश करना है।''[18] इस समकालीन शब्द को लोगों ने अशोक वाजपेयी की आलोचना की सरहद समझकर उन्हें समकालीनता से आक्रांत करार दिया। जबकि स्वयं लेखक ने 'फिलहाल ' के बाद अपने दूसरे आलोचना ग्रंथ 'कुछ पूर्वग्रह' में ही 'फिलहाल' के समकालीनता की चहारदीवारी को तोड़ दिया। अशोक वाजपेयी की आलोचना का आरम्भ समकालीनता से अवश्य हुआ किन्तु यह समकालीनता का मुहावरा उनकी बाद की समीक्षा पुस्तकों पर 'फिलहाल' के जैसा लागू नहीं किया जा सकता। समकालीनता अशोक वाजपेयी की आलोचना की रूढ़ि कभी नहीं बनी। समकालीनता की शर्तों

पर रचना की आलोचना हमारी आलोचना में सृजनात्मक की बुनियादी जरूरत थी क्योंकि समकलीन रचना पर ध्यान न देकर लोग अंधाधुंध शाश्वत् सत्यों की परम्परा का राग अलापे जा रहे थे, आलोचना में शास्त्रीयता के कारण समसामयिक रचना को लगभग खारिज करने की प्रवृत्ति जोर पकड़े हुए थी। और जो लोग समसामयिक रचनाओं पर लिख भी रहे थे उनके मानदण्ड और कसौटियाँ वही थी इन सब वजहों से समकालीनता का नारा आलोचना में बुलंद हुआ। और आलोचना की एक ऐसी धारा पुष्ट हुई जिसमें समकालीन रचना को समकालीन मानव की शर्तों पर विश्लेषित किया गया। सृजनात्मक आलोचना इसी धारा का नाम है। ''जीवन्त आलोचना साहित्य के हर मोड़ के साथ नए सन्दर्भों में ढलती है और अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है।'' सृजनात्मक आलोचना इसका उदाहरण है।

अशोक वाजपेयी के आलोचना साहित्य में 'फिलहाल' की स्थिति मील के पत्थर की तरह है। जो अशोक वाजपेयी की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु भी है और पहचान का कारण थी। 'फिलहाल' ने जिस समय की रचनाओं को परखने की हिम्मत दिखायी, वह समय मोहभंग के वातावरण से उपजा कविता में आक्रोश, विरोध, कुंठा, निराशा का समय था। इस समय सही कविता की पहचान करना लगभग मुश्किल हो गया था, आन्दोलनों की बाढ़ सी आयी हुई थी। ऐसे विवादास्पद समय की विवादित कविता में से शुद्ध कविता छांटना और आलोचना लिखना भारी बहादुरी का काम था। उस समय आलोचना भेदभाव के चरम पर थी। ऐसे में रचनाकार आलोचकों ने आलोचना में कारगर हस्तक्षेप किया जिसके परिणामस्वरूप 'सृजनात्मक आलोचना' सामने आयी। इस पीढ़ी में मलयज, विष्णु खरे, रमेशचन्द्र शाह, विजय देव नारायण साही, चन्द्रकांत देवताले, श्रीकांत वर्मा, आदि के साथ अशोक वाजपेयी का नाम प्रमुख है।

सन् साठ के बाद आज हम जिन आलोचकों विश्वनाथ त्रिपाठी, मलयज, विष्णु खरे, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेश चन्द्र शाह, नंद किशोर नवल, मैनेजर पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, मधुरेश चन्द्रभूषण तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, विजयमोहन सिंह, प्रभात त्रिपाठी, प्रभाकर श्रोत्रिय, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, कुमार विकल, रमेश कुन्तल मेघ, लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी की चर्चा करते हैं उनमे अशोक वाजपेयी की उपस्थिति अपने आलोचनात्मक उद्यम के व्यापक केनवास के कारण लगातार चर्चा का विषय रही है। 'फिलहाल' जिसे युवा कविता आन्दोलन की पड़ताल का ग्रंथ माना गया है। इस पुस्तक के

अधिकांश लेख 'युवा कविता' को विश्लेषित करते हैं। और वह भी पूरी समग्रता से। "उदाहरण के लिये दृश्यालेख, तलाश के दो मुहावरे, कुछ युवा कवि, युवा, लेखन, साहस और उग्रता की पड़ताल, युवा कविता की आलोचना, अकविता एक नयी रूमानियत, नए पुराने को झगड़ा, बदलता मुहावरा, समकालीन कविता जैस लेख सातवें दशक की कविता की दिशा और दृष्टि को समझने का एक साहसिक, उत्तेजक और प्रमाणित उपक्रम है।"[19] इस तरह "सातवें दशक की कविता की जितनी गहन तात्विक और ऐतिहासिक जांच पड़ताल अशोक वाजपेयी कर पाते हैं उतने अन्य आलोचक नहीं।"[20]

हमारे यहां साठ के दशक की हिन्दी कविता का परिदृश्य बेहद उलझा हुआ था। कविता ने समकालीन समाज और मनुष्य के सभी दबावों को भर-भराकर उगलना शुरू कर दिया था जिसमें राजनीति भी शामिल थी। यह वह समय था जब कविता खुला अखाड़ा बन गयी थी। सबको स्थापित होने की पड़ी थी। विषय वस्तु और भाषा में भी इस समय ऐतिहासिक गिरावट देखने को मिलती है। किन्तु इस समय भी अनेक कवि भाषा और विषय वस्तु के आधार पर सार्थक कविता लिख रहे थे जिन्हें अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' में विश्लेषित किया है। 'फिलहाल' की आलोचना में सातवें दशक के मोहभंग की कविता के वातावरण की स्थिति साफ नजर आती है। यह मोहभंग साहित्य में भी समाज के रास्ते आया था। इस समय 'साहित्य में एक ओर नयी कविता का वर्ग था जो इन सामाजिक परिस्थितियों से बेखबर अस्तित्ववादी यूटोपिया में भटक रहा था और दूसरी ओर इसी नयी कविता के श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण, रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह जैसे कवि भी थे जिन्होंने नयी कविता की रूढ़ियों को तोड़कर इस नये सामाजिक सत्य के साथ जीवंत रिश्ता बनाया था।"[21] इसी समय युवा पीढ़ी में "अकविता के समानान्तर 'युवा कविता' (यह नाम अशोक वाजपेयी ने दिया था) आकार ले रही थी जिसमे भाषा संवेदना और विचारों के स्तर पर उस नये सामाजिक सत्य को संयत और कहीं-कहीं अतिरंजित अभिव्यक्ति मिल रही थी।"[22] इस समय आलोचना अपने शाश्वत प्रश्नों से तो जूझ ही रही थी साथ ही समकालीन रचना के प्रति वह उदासीन भी थी। फिलहाल की आलोचना से अशोक वाजपेयी ने तात्कालिक ऐतिहासिक जरूरत' की हिन्दी साहित्य में पूर्ति की। 'फिलहाल की आलोचना इसी जरूरत के दबाव से पैदा और उसे झेलने की सामर्थ्य विकसित करती आलोचना है।"[23] इस समय साहित्य और समय में जो तनाव था वह मोहभंग के वातावरण से उपजा था।

इस समय राजनीति में भी विचारों, मुद्दों आदि को लेकर संघर्ष चल रहा था। इसलिए फिलहाल के जनतंत्र की तस्वीर तत्कालिक भारतीय जनतंत्र की तस्वीर से काफी मिलती-जुलती है। दोनों में महत्वपूर्ण समानताएं दिखायी देती हैं। दोनों में टकराव की, खण्डन-मण्डन की मुद्राएं और स्वर साफ सुनायी देते हैं।

फिलहाल की आलोचना में जो महत्वपूर्ण तत्व शामिल किये गये, उनमें केवल समकालीन रचना की समकालीन मनुष्य और समाज की शर्तों पर उसका मूल्यांकन ही नहीं है बल्कि 'फिलहाल' का तीखा निषेधात्मक स्वर और पक्ष-विपक्ष की सार्थक उपस्थिति भी है।

फिलहाल के केनवास में हम देखते है कि अशोक वाजपेयी की आलोचना रचना और आलोचना दोनों में कुछ जरूरी परिवर्तन के तनाव से युक्त है। कविता में जहां लेखक विचार बृद्धि, धर्म, भाषा आदि की सार्थकता की मांग करता है वही वह आलोचना को भी बिना अपनी 'रूचि के केन्द्रहीन हुए' इतनी लचीली और समावेशी बनाने की मांग करता है कि "उससे कई तरह की कविताओं, काव्य दृष्टियों और मूल्यों का सहानुभूति लेकिन दृढ़ता के साथ सामना किया जा सके।"[24]

अशोक वाजपेयी रचना और आलोचना दोनों में 'ऐतिहासिक विवेक' को साथ लेकर चलने के पक्ष में हैं, वे रचनात्मक स्तर पर भाषा के संस्कार के प्रति, उसकी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति सजग रहने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका मानना है कि रचना में पारंपरिक अनुगूंजों से कट जाने से कविता की भाषा में सतहीपन और सपाटता आ जाती है इसलिए रचना में भाषा की अनुगूंज भी होना मूल्यवान है।

(आलोचना में भी लेखक परम्परा की अनुगूंज का प्रबल पक्षधर है।) फिलहाल का वातावरण आलोचना में फतवेबाजी, रिटोरिक का वातावरण था। शाश्वत सत्यों से हटकर रचना का सामना करना मुश्किल हो गया था। इस समय के पुरानी पीढ़ी के आलोचकों का "इस बात से जैसे विश्वास ही उठ गया था कि तर्क का प्रतिकार तर्क से ही होता है।"[25] अशोक वाजपेयी ने इस स्थिति को बहुत तीव्रता से महसूस किया और लिखा कि "जरा जागरूक बृद्धिजीवी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होना कि अपनी समकालीन दुनिया में उसे बौद्धिक चुनौतियां दिया जाना बंद हो जाएं"[26] यह स्थिति हिन्दी में आलोचना के सतहीपन के कारण निर्मित हुई थी। अशोक वाजपेयी कविता और आलोचना दोनों में विचार आदि के पक्षधर है।

फिलहाल की आलोचना में लेखक ने दो विभिन्न तेवर के कवियों की पड़ताल एक साथ की है। जिससे दोनों कवियों की रचनाओं को समझने में आसानी होती है, अतः 'कमलेश' और धूमिल को ही लीजिए। अशोक वाजपेयी जी ने एक साथ रखा है, जबकि कमलेश और धूमिल की कविता में पर्याप्त अन्तर भी मौजूद है, यह एक चुनौती भरा काम है जो अशोक वाजपेयी ने किया है। कमलेश की कविता के लिए वे कहते है "कि उनकी कविता में अहसास तो है समझ नहीं।"[27] वहीं कमलेश से तुलना करते हुए वे लिखते हैं- धूमिल में बौद्धिक समझ भी है जो अहसास को संयमित करती और गहरा बनाती है। यही कमलेश जैसे दूसरे युवा कवियों से धूमिल की विशिष्ठता भी स्पष्ट होती है धूमिल मात्र अनुभूति के नहीं विचार के भी कवि हैं।"[28]

अशोक वाजपेयी के यहां आलोचना किसी कविता के द्वारा उस समय की समूची कविता की संवेदना को समझने और उस समझ से आलोचना को सक्षम और प्रभावी बनाने की कोशिश करते हैं। वे एक कविता पर टिप्पणी करके वैसी अनेकों कविताओं को समझने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अशोक वाजपेयी आलोच्य कविता को सबसे पहले भाषा की कसौटी पर परखते है और दो टूक फैसला देने से वे परहेज करके वे विश्लेषण करते हैं। जैसे कमलेश की काव्य भाषा पर उन्होंने कहा - "भाषा में निजी भूमि की तलाश कमलेश को भाषा के स्वप्न जगत, उसमें रची बसी सजीव यादों की ओर ले जाती हैं। शताब्दियों पीछे छूट गई भूमि को फिर से प्राप्त और चरितार्थ करना जैसे भाषा की जड़ों तक उसके बचपन तक जाना है।"[29] "भाषा की जड़ों तक पहुंचना अनुभव की जड़ों तक पहुंचने की ही दूसरा नाम है।"[30] रचना में भाषा, अभिव्यक्ति बिम्बों चित्रों शब्दों को अशोक वाजपेयी बखूबी पहचान कर सार्वजनिक करते देखे जा सकते हैं। उनकी आलोचना में यहां तर्क, उनके विश्लेषण की प्रमुख विशेषता है। उनकी भाषा रचना के दुर्बल पक्षों पर जैसा प्रहार करती है उसी समकक्ष रचना के महत्वपूर्ण पक्षों को तर्क सहित उद्घाटित भी करती है।

फिलहाल से लेकर 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' तक अशोक वाजपेयी की आलोचना में हम देखते हैं कि उन्हें विषय के विश्लेषण की पूरी समझ है वे तर्कों ओर चुनौतियों के साथ रचना की गहराई में जाकर धारा प्रवाह भाषा के, द्वारा चरणबद्ध विश्लेषण करने में सक्षम आलोचक हैं। अपने खण्डन-मण्डन की तर्क सहित प्रमाणिकता देना उनकी आलोचना की विशेषता है। वे खराब को बिना सोचे समझे खराब नहीं कह देते बल्कि उसे (पाठकों) के लिए साहित्य

के लिए भ्रम उत्पन्न करने से बचाकर अच्छी बुरी रचना को विश्लेषित भी करते हैं जैसे ''आक्रामक लेखन की कुछ अपनी रूढ़ियां बनी है। उनमें से दो प्रमुख है साहसिकता और नग्नता।''[31] अशोक वाजपेयी की भाषा तर्कों की भाषा है जो शब्दाडम्बरों से बचकर सीधे-सीधे दो टूक बात कहने में सक्षम भाषा है।

साठ के दशक की उग्र कविता पर अशोक वाजपेयी ने मूल्यों को निरर्थक घोषित करने का आरोप लगाया है जिसके कारण इधर के लेखन में सभी संबंध और मूल्य के प्रति उदासीनता व्याप्त हुई। जबकि ''नए लेखक में मूल्यों के बारे में एक सतर्क दृष्टि थी, बल्कि कई बार अतिरिक्त उत्साह भी।''[32] निष्कर्षतः नयी कविता में विचार और मूल्यों के स्तर पर एक विकलता थी। किन्तु ''उस लेखक में ऐसी कोई विकलता नहीं दिखती।''[33] अशोक वाजपेयी जी ने 'फिलहाल' में युवा लेखन में आयी 'साहस और उग्रता की पड़ताल' की चर्चा करते हुए रचना में विचार के साथ मूल्यों का होना कविता में उसकी सार्थकता के लिए जरूरी माना। उन्होंने लिखा कि ''मूल्यबोध का सीधा संबंध रचना के स्तर पर अर्थ से है जो साहित्य मूल्य निरपेक्ष होना चाहता है वह अर्थ निरपेक्ष भी होना चाहेगा।''[34] ऐसी कविताओं को अशोक जी ने अर्थहीन साहित्य कहा है कुछ इस दौर में थे जो मानवीय साक्षात्कार को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। बाद की पीढ़ी के केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल कमलेश, विनोद कुमार शुक्ल आदि कवियों में ''उग्रता उठाईगीर संस्कृति की भी एक अभिव्यक्ति है और खुले जोखिम भरे मानवीय साक्षात्कार की थी।''[35] स्त्री को लेकर भी अकविता आदि में जो सरलीकरण जन्मा था, जो नम्नता विकृति बन फूट पड़ी थी उसका अशोक वाजपेयी ने तर्क सहित विरोध किया। इससे पता चलता है कि अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना में ''सिर्फ रूचिकर व्यंजन ही नहीं ढूंढते, अरूचिकर और तीखे को भी चखते हैं।''[36] जैसे दो विभिन्न तेवरों के कवियों को उन्होंने आलोचना के लिए उसके सार्थक विश्लेषण के लिए उठाया है वैसे ही वे दो भिन्न रचना धाराओं को भी आपनी आलोचना में कारगरता से उठाते हैं, जिससे वे अपनी बात और भी प्रमाणिकता से स्पष्ट कर पाते हैं। वैसे यह आलोचना की बुनियादी आवश्यकता भी है जो हमें अशोक में तीव्रता से महसूस होती है।

अशोक जी आलोच्य ''कविता में बहुत दूर तक ऐसे रसिक की तरह जाते है जो कविता को व्यंजन भर कर मानकर उसे जीने के कर्म की परिभाषा भी मानता है।''[37] लेखक आलोच्य कविता में केवल अनुभूति को ही श्रेष्ठ नहीं ठहराता वह अनुभूति के साथ विचार के साहस को जरूरी मानता है।

युवा लेखन की अनेक विशेषताओं में से एक 'सपाटबयानी' की भी अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में चर्चा की है 'सपाटबयानी' को उन्होंने युवा लेखकों के विचार विरोध और ऊब तथा अबौद्धिकता का कारण माना है। उन्होंने लिखा है कि "नई कविता में बिंबों और प्रतीकों की ऐसी भरमार हो गई थी कि कविता शब्दाडम्बर होने लगी थी और उसकी अनुभावात्मक तात्कालिक नष्ट सी हो गई थी। कविता को फिर जीवित तात्कालिकता देने के लिए और काव्य भाषा का जो बिंबों में फंसकर गतिहीन और जड़ हो चली थी, ताजगी ओर जीवंतता देने के लिए युवा कवियों ने अगर सपाटबयानी की ओर रूख किया तो यह स्वाभाविक और जरूरी ही था।"[38] हम देखते हैं कि "अशोक वाजपेयी की आलोचना का यह जनतंत्र इतिहास, विचारधारा, व्यक्तिवाद और शास्त्र के अतिरेक नीरसता और तानाशाही के विरूद्ध एक उम्मीद की तरह विकसित हुआ था। वह फिलहाल की जलवायु में अंकुरित होती युवा कविता के स्वप्न और यथार्थ से बुना गया जनतंत्र था जिसका समूचा विधान एक अतिवाद के विरूद्ध निषेध की खण्डन-मण्डन की भाषा और मूल्यों पर टिका हुआ था।"[39] "उस अतिरेक पूर्ण नीरस और तानाशाह व्यवस्था में घुटते कुंठित होते मूल्यों को यह 'आलोचना' एक मुक्तिदायक शरण स्थली होती जैसा कि हुआ भी।"[40]

फिलहाल की समीक्षा में तर्क संगत खण्डन-मण्डन और विचार पर समकालीन राजनैतिक परिदृश्य पर कविता की नजर, आदि के साथ परम्परा के भाषा, और संस्कारों की झनक भी इस समीक्षा पद्धति की अनिवार्य शर्तों में से हैं। भाषा में चालू मुहावरों के अशोक जी सख्त खिलाफ है। भाषा के नाम पर वे सरलीकरणों को कविता के लिए, भाषा के लिए खतरनाक मानते हैं।

'फिलहाल' की आलोचना को समझने, उसमें प्रवेश करने के लिए जो रास्ता अशोक वाजपेयी ने दिया है उसे आलोचकों ने 'जिरह का रास्ता' ज्ञापित किया है। अशोक वाजपेयी की आलोचना "भाषा स्वयं सिद्ध विश्लेषण की भाषा उतनी नहीं है जितनी रचना से अर्जित प्रभावों का एक नया संश्लेषण करने वाली भाषा"[41] है।"[42] फिलहाल की भाषा में हम कुछ शब्दों तक का हेर-फेर नहीं कर सकते वह इतनी सघन और सार्थक शब्दों की व्यवस्था के साथ-साथ सार्थक तर्कों की व्यवस्था भी है। यदि हम इसमें कुछ भी हस्तक्षेप करेंगे तो इसका मंतव्य बदल जायेगा। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी में इस समय आलोचना में कुछ जरूरी बदलावों को स्वीकार कर लेने का अप्रत्यक्ष प्रयास भी देखा जा सकता

है। अशोक वाजपेयी शाश्वत प्रश्नों को एक तरफ रख तात्कालिक ऐतिहासिक आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित करते है "फिलहाल की आलोचना इसी जरूरत के दबाव से पैदा और उसे झेलने की सामर्थ्य विकसित करती आलोचना है।"[43] फिलहाल की आलोचना में अकविता की कबाई भावुकता बड़बोली आक्रामकता, स्मृतिहीनता, आत्मरति, स्त्री और भीड़ के प्रति रोमेण्टिक दृष्टि, विचारहीनता, नयी कविता की तटस्थता, स्वायतता, आत्ममुग्धता और युवा कविता की अतिरंजित साहसिकता, उग्रता सामान्यीकरण, आत्मस्फीति और कविता की शक्ति में अतिरिक्त विश्वास जैसी रूढ़ियों या तत्कालीन काव्य विश्वासों के निषेध की प्रक्रिया में फिलहाल में मनुष्य ने मनुष्य की स्थिति के बौद्धिक आकलन, मितभाषी विनम्रता, मानव सम्बंधों के प्रति आत्मीय और वस्तुपरक दृष्टि, वैचारिकता, संघर्षशीलता, हिस्सेदारी, सार्वजनिकता, आत्मविश्लेषण, नैतिक साहस, अपस्फीति, ऐन्द्रिकता, जातीय स्मृति, जीवन के सूक्ष्म ब्यौरों का बखान जैसे मूल्यों को स्थापित किया। अतः अशोक वाजपेयी की आलोचना रचना में भाषा और अभिव्यक्ति के साथ उसकी विषयवस्तु, विचार आदि के विश्लेषण की एक निडर अभिव्यक्ति की आलोचना है। उनमें तर्क की सार्थकता महत्वपूर्ण हैं और आलोचना भाषा तो जैसे पाठक को घेरने को तैयार खड़ी भाषा है। जिसमें सरल और सीधे शब्दों के द्वारा एक अनोखे उक्ति चातुर्य को अपनाया गया है।

अतः फिलहाल युवा कविता आन्दोलन की पड़ताल का ग्रंथ तो है ही अशोक वाजपेयी की आलोचना का भी शीर्ष ग्रंथ भी है जिसमें लेखक ने एक बड़ी चुनौती को स्वीकार करने का साहस किया है। राजकमल प्रकाशन से इसके प्रकाशित हो चुके चार संस्करण इसके महत्व को स्वयं ही प्रतिपादित करता है।

'कुछ पूर्वग्रह' (1984) अशोक वाजपेयी की आलोचना का दूसरा पड़ाव है, जो कविता की वापसी का विनम्र प्रतिवेदन भी है। आलोचना के विकास का सोपान भी। आलोचक मदन सोनी ने 'कुछ पूर्वग्रह' की 'फिलहाल' से तुलना करते हुए इसे अशोक वाजपेयी की आलोचना की 'स्थापित व्यवस्था कहा है यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में अशोक वाजपेयी की आलोचना 'फिलहाल' की ही तरह "हमारी बौद्धिक दुनिया के उस हर कोने के प्रति चौकन्नी है जहां किसी भी किस्म का टकराव या तनाव है।"[44] किन्तु यहां उसमें 'फिलहाल' वाला वह और वैसा बौद्धिक संघर्ष नहीं दिखता। इसका एक कारण तो "कविता पर किसी एक मुहावरे, किसी एकनिष्ठ दृष्टि"[45] के आतंक का अभाव है और दूसरा विभिन्न आन्दोलनों का ठण्डा पड़ना है। 'कुछ पूर्वग्रह' की आलोचना में कविता के तेवर

'फिलहाल' की आलोचना की कविता के तेवर से बहुत भिन्न है। यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में कविता 'गुपचुप दूब की तरह दृश्य पर छा गयी है' और वहां 'फिलहाल' में कविता कहीं हथियार बन रही थी, तो कहीं बयान।

कविता आदमी को जीवन संघर्ष में मदद करे यह ठीक है मैं इससे सहमत हूँ, किन्तु कविता यदि खुद आदमी का संघर्ष करने लगे तो समझ लो कविता अपने दायित्व अपनी स्वाभाविकता से भटक गयी है। और सन साठ के अनेक कविता आंदोलनों में कविता को उसके मार्ग से भटकते देखा जा सकता है। यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में कविता अपने तथाकथित आन्दोलनों से बाहर खुले में आयी है। दृश्य में उसकी सजीव उपस्थिति की गर्माहट महसूस भी की जा सकती है। 'फिलहाल' का वातावरण पक्ष और विपक्ष की साकार उपस्थिति का वातावरण था क्योंकि काव्य आन्दोलनों के तेवरों से जूझने के लिये यह जरूरी था। वहां बिना खण्डन-मण्डन के कुछ साफ साफ और बेहतर कह पाना मुश्किल नहीं असंभव भी था क्योंकि समकालीन कविता का पूरा परिदृश्य उलझा हुआ था। ऐसी बात नहीं की 'कुछ पूर्वग्रह' में संघर्ष और खण्डन-मण्डन है ही नहीं है और उससे भी फिलहाल ज्यादा है पर यहां उसका रूप बदला है, यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में अशोक वाजपेयी की भाषा ने कविता के हिसाब से थोड़ी करवट ली है कुछ बदलाव आया है।

आलोचना भाषा की दृष्टि से यहां वाक्य "विन्यास अत्यंत सुगठित है और एक दुर्लभ किस्म का उक्तिचातुर्य उसे सुन्दर भी बनाता है पर एक चीज जिसे हम तर्क कहते हैं यहां सिरे से गायब है। उन्हीं के शब्दों में यह शब्दों की एक सार्थक व्यवस्था तो है पर तर्कों की सार्थक व्यवस्था नहीं।"[46] यदि हम लेखक को गहराई से समझने की कोशिश करें तो अशोक वाजपेयी समीक्षा में "फिलहाल से 'कुछ पूर्वग्रह' तक और उसके आगे भी, वे एक ऐसे 'उग्र विवेक' के कायल नजर आते हैं जो अपने समय की अपढ़ता, संस्कृति कर्म के प्रति व्यापक सामाजिक उदासीनता, सम्वादहीनता को तोड़कर एक नया सम्वाद पैदा"[47] करना चाहता है। अशोक वाजपेयी की आलोचना के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साहित्य के प्रति समाज की नियति में सोच में बदलाव की चिंता और साहित्य की समाज में पुर्नप्रतिष्ठा का संघर्ष साफ दिखाई देता है वे बड़ी उत्कटता से लिखते हैं कि "मैं अभी भी उम्मीद लगाए हूँ कि एक दिन तथाकथित तथ्यों से ऊबकर लोग उन जीवन्त जीवन छवियों की ओर आयेंगे जो साहित्य धीरज और शांति से प्रस्तुत करता है, उस सच की ओर जो साहित्य के पास है और तथ्यों के घटाटोप

में बिला नहीं गया है।"[48] जाहिर है लेखक अपनी समीक्षा में जीवंत जीवन छवियों को महत्व देता है। और औरों से भी इस जीवन्तता पर भरोसा करने का आग्रह करता है। 'कुछ पूर्वग्रह' में भी यह आग्रह देखा जा सकता है। फिलहाल में जहां अशोक वाजपेयी साठवें दशक के 'मोहभंग' के वातावरण में उपजी काव्यधाराओं से जूझ रहे थे, 'कुछ पूर्वग्रह' के वातावरण में आकर उन्होंने हिन्दी आलोचना में स्थायित्व ग्रहण किया। किन्तु एक बात समझ में नहीं आती की 'कुछ पूर्वग्रह' में भी उन्होंने अधिकांश उन्हीं कवियों को समीक्षा के लिए चुना है जो 'फिलहाल' में थे। हालांकि ये रचनाकार दोनों समय में सक्रिय थे।

'फिलहाल' में कविता 'नयी कविता' की रूढ़ियों से विद्रोह करके नये सामाजिक सत्य से साक्षात्कार कर रही थी। इसी समय युवा पीढ़ी में अकविता के अतिचारों के समानान्तर युवा कविता ने जगह बनायी जिसमें भाषा के स्तर पर सामाजिक सत्य को संयत और कहीं अतिरंजित अभिव्यक्ति मिली। 'फिलहाल' में अशोक वाजपेयी ने कविता के इस उलझे हुए वातावरण को सुलझाया है। किन्तु 'कुछ पूर्वग्रह' की समीक्षा में कविता की वह प्रवृत्तियां हमें नहीं दिखती जो 'फिलहाल' की समीक्षा में थी। यहां आन्दोलनों का दौर नहीं है यहां कविता की वह वापसी हुई है। वह बिना किसी नाटकीय मुद्रा के और बिना हाथ उठाकर किसी नये काव्यधर्म की घोषणा के गुपचुप दूब की तरह दृश्य पर छा गयी है"[49] यहां कविता की वापसी का जैसा ऐलान अशोक वाजपेयी ने किया है। वैसी जगह वे इस दशक के सक्रिय कवियों को दे नहीं पाये। हिन्दी समाज में क्या भारतीय भाषाओं के समाज में कविता, गद्य रंगमंच सब अपना काम कर रहे हैं पर अब भी केन्द्र में कविता ही है। किन्तु आलोचना लगातार क्षय का शिकार होती ही जा रही है। पहले वह जहां शास्त्रीयता और शाश्वत सत्यों के कारण वासीपन का शिकार हो गयी थी, उसके बाद पार्टीबंदी का और बीच में थोड़ी सी स्थिति सुधरी थी व्यवहारिक आलोचना के समय किन्तु वह भी अपना रास्ता भटक गयी और अब स्थिति आलोचना टिप्पणियों का व्यवसाय हो गयी है। लेकिन अशोक वाजपेयी ने बराबर इस स्थिति की चिन्ता की है और हिन्दी आलोचना को उसके संघर्ष में मदद भी वे लगातार करते रहे हैं रूसी लेखक 'सोलोविओव' की यह टिप्पणी कि "आलोचना और रचना में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। आलोचक भी अपने समय से, उसके उन्हीं प्रश्नों दबावों से जूझता है जिनसे रचनाकार आलोचना ईमानदार अच्छा गद्य है और यही रचना है।"[50] अशोक वाजपेयी के समीक्षा कर्म पर उनकी आलोचना सोच पर अक्षरशः लागू

होती है यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में भी अशोक वाजपेयी की आलोचना ''आदमी की हालत की पड़ताल है''[51] भले ही उसने ऐसा करने के लिए यहां ''साहित्य और कलाओं के साक्ष्य का सहारा'' ले लिया है। आलोचना के प्रति लोगों के गिरते हुए विश्वास के दौर में अशोक वाजपेयी की सबसे पहली चिंता तो यही है कि लोगों को खासकर आलोचना कर्म में लगे लोगों का आलोचना पर विश्वास कैसे बहाल हो। इसके लिए वे आलोचकों से स्वयं आलोचना पर सवाल उठाने की बात करते हैं और वह भी निर्ममता से। उन्होंने 'आलोचना की जरूरत' निबंध में आज की आलोचना की स्थिति, नियति, दुर्दशा और उसके कारणों और निदान पर सार्थक बहस का मार्ग प्रशस्त किया है। जो उनके आलोचक व्यक्तित्व को दूर तक परिभाषित करता है। हमें अशोक वाजपेयी के आलोचना परिदृश्य में जो महत्वपूर्ण तत्व नजर आते हैं उनमें आलोचना में भाषा की परम्परा के साथ नयी लय और भारतीयता की गूंज, पश्चिम से हमारे साहित्य की तुलनात्मक विवेचना और सबसे महत्व की बात साहित्य के विकास की उसकी सार्थकता तथा मनुष्य से अभिन्न संबंध स्थापित करने की उत्कट ललक जो कम ही लोगों में मिलती है। वे अपने साहित्यिक, सांस्कृतिक सरोकारों में हिन्दी साहित्य के विकास और हितों के लिये जूझते 20 वीं शताब्दी के अन्तिम चार दशकों में सबसे बड़े व्यक्तित्व के रूप में उभरे हैं।

'कुछ पूर्वग्रह' केवल एक दशक की कविता की वापसी की घोषणा ही नहीं है बल्कि वह हिन्दी की विकासमान रचना प्रक्रिया का उसकी तह से उतर कर किया गया विश्लेषण भी है। कविता में, आलोचना में आये बदलावों और विकृतियों का वह मंच भी है। 'कुछ पूर्वग्रह' में भले ही रघुवीर सहाय, धूमिल, मुक्तिबोध आदि कवि 'फिलहाल' के बाद एक बार फिर उनकी आलोचना में सक्रिय हुए हैं किन्तु यहां वे कविता की वापसी का, उसमें आये बदलाव रचनाओं में प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

'कुछ पूर्वग्रह' पश्चिम के साहित्य के साथ कुछ जरूरी संवाद छेड़ती है। यहां लेखन की पश्चिमी साहित्य की गहरी समझ का भी पता चलता है और आज के समय वहां की स्थिति क्या है (साहित्य की) इससे हम वाकिफ भी होते है। किन्तु भारतीय और पश्चिमी संस्कृति में कितना भयंकर अंतर है यह भी हमें पता चलता है जब लेखक यह बताता है कि वहां की जनता या पाठक पर किसी कृति का प्रभाव ज्यादा दिन नहीं रहता हैं जबकि हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति में एक कृति का प्रभाव लम्बे समय तक रहता है। इस अर्थ में हमें

ज्यादा सजग रहने की जरूरत है। 'कुछ पूर्वग्रह' में कविता की सार्थक सूक्ष्म पड़ताल होने के साथ साहित्य के इतर विषय रही कलाएं भी आलोचना के दायरे में पहली बार शामिल हुई हैं। यह शुरूआत हमारे साहित्य का हमारी संस्कृति के साथ सगुण संबंध कायम करने के लिए खोला गया दरवाजा है, जो इस पश्चिमी सभ्यता से आक्रांत समाज में भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की पहल है।

अशोक वाजपेयी एक स्वतंत्र कृतिकार हैं पर आलोचना को वे अपनी रचना का जरूरी हिस्सा मानते हैं। और अपने समय और उसमें रची जा रही कविता के पास जाते हैं तथा उस समझ को दूसरों तक भी पहुंचाने का कार्य भी करते हैं। हालाकि सृजनात्मक आलोचना के सभी रचनाकारों ने यह कार्य लगातार किया है। इनमें अशोक वाजपेयी, निर्मल वर्मा, कुंवरनारायण, मलयज, रमेश चन्द्र शाह, प्रभात कुमार त्रिपाठी आदि सृजनात्मक आलोचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। इन आलोचकों ने अपने समकालीन साहित्य के ज्वलंत प्रश्नों को खुले तौर पर समझने सुलझाने की कोशिश की है और काफी हद तक सफल भी हुए हैं। इन आलोचकों में सबकी अपनी-अपनी दृष्टि है "लेकिन उसकी तानाशाही उनकी आलोचना में नहीं है, बल्कि अपनी दृष्टि को भी जांचने-परखने का दुर्लभ साहस उनमें है।"[52] इसी तरह उनकी आलोचना में पूरी गम्भीरता और जिम्मेदारी है "अपना साहित्य या परम्परा उनके लिए महत्वपूर्ण सन्दर्भ है।"[53] अशोक वाजपेयी की आलोचना के सरोकार भी यही है, और मैं तो कहता हूँ कि सृजनात्मक आलोचना के वे प्रमुख स्तम्भ हैं।

अशोक की आलोचना में हम देखते है कि उन्हें फैसला देने की जल्दी नहीं है कि बल्कि वे आलोचना में निर्णयों के स्थान पर रचना की समझ पर अधिक जोर देते देखे जा सकते है इसी गुण से अशोक वाजपेयी की आलोचना को हम कह सकते हैं कि वह फैसले पर कम पड़ताल पर अधिक विश्वास करती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना पर साररूप मे हम कह सकते हैं कि वह फैसले पर कब पड़ताल पर अधिक विश्वास करती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना पर साररूप में कहें तो यह आलोचना की भाषा का उसकी जड़ता उदासीनता और ठण्डेपन से सातवें दशक से लगातार इस लेखक ने जो संघर्ष किया है उससे स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी आलोचना के मुहावरे ने उनके यहां नयी गरमाहट, वैचारिक, उत्कटता और सम्वेदनशीलता"[54] पाई है।

'कुछ पूर्वग्रह' में लेखक ने शमशेर बहादुर, रघुवीर सहाय, विनोद कुमार शुक्ल, धूमिल मुक्तिबोध आदि समकालीन कविता में सक्रिय लोगों की रचनाओं की सूक्ष्म ब्यौरे बार पड़ताल की है। यहां आलोचक और आलोचना तथा कवि और कविता फिलहाल वाले संघर्ष से निकलकर बाहर खुले में दिखाई देता है। कविता हासिए और आंदोलनों के घेराव से छूटकर केन्द्रीय रूप में सामने आई है। तथा उसका ऊहापोह का वातावरण खत्म हुआ है। कविता पर कुछ पूर्वग्रह की आलोचना में नया विश्वास जागा है। यहां पीढ़ियों-रूढ़ियों के संघर्ष का टकराव समाप्त हुआ है, तथा कविता ने समाज और संस्कृति से एक नया रिश्ता कायम किया है। अशोक वाजपेयी को हम अस्सी के दशक की कविता का उद्धारक भी कह सकते हैं।

'कुछ पूर्वग्रह' की आलोचना भाषा पर यदि गौर किया तो यह कविता की वापसी का बखान करते-करते कुछ हद तक स्वयं भी काव्यमय हो गयी इसमें भी कविता की भाषा का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है हालाकि अशोक जी की भाषा आरम्भ से रचना से संश्लेषित प्रभावों की भाषा है। फिर भी यहां पर संश्लेषण फिलहाल से कुछ ज्यादा हुआ लगता है।

'कुछ पूर्वग्रह' की आलोचना पर कविता की चर्चा करते हुए लेखक ने कहा है कि यहां ''कविता पर किसी एक मुहावरे, किसी एकनिष्ठ दृष्टि का आतंक नहीं है बल्कि उनकी समृद्ध और जटिल बहुलता है। कोई नहीं कह सकता कि हमारे समय को लिखने का प्रामाणिक एकाधिकार किसी एक चालू मुहावरे को प्राप्त है।''[55] यहां कविता अपने एकहरेपन को तोड़कर बाहर आई है और हिन्दी साहित्य में पहली बार युवा पीढ़ी और वरिष्ठ कवि समकालीन हुए हैं। इसे अशोक जी ने ''कवि समय में अकस्मात एक नयी तात्कालिकता''[56] की संज्ञा दी है। 'कुछ पूर्वग्रह' के केनवास में लेखक कविता के प्रति प्रति उसके प्रत्येक हावभाव के प्रति अत्यन्त चौकन्ना और संवेदनशील है। उसकी निगाह पूरे काव्य दृश्य पर अपलक है वह पश्चिमी आंदोलनों के बुखार से हिन्दी काव्य परिदृश्य को मुक्त करने की भी पहल करता है।

पूर्वग्रह शब्द को लेकर अशोक वाजपेयी की आलोचना में कुछ भ्रम की स्थिति महसूस होती है क्योंकि लेखक 'पूर्वग्रह' शब्द को पूरी तरह अपनी आलोचना पद्धति में डिफाईन नहीं कर पाया लगता है क्योंकि वह एक तरफ तो कहता है, 'पूर्वग्रह' आलोचना में प्रवेश का माध्यम है दूसरी और वह कहता है कि ''हर आलोचना के जैसे कि हर रचनाकर के भी 'पूर्वग्रह' होते हैं,

आलोचना समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप है वह उदासीन, तटस्थ या पूर्वग्रहहीन नहीं हो सकती है।"[57] किन्तु यहां वे यह बात स्पष्ट नहीं कर पाये हैं कि वह कैसी हो सकती है। इस तरह के अनेक प्रश्नों के उत्तर लेखक देने से बचकर निकल जाता है।

'कुछ पूर्वग्रह' में अशोक वाजपेयी की आलोचना में इधर समकालीन कविता में मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय जैसे वरिष्ठ लोगों की रचनाओं की गहरी छानबीन है तो 'आलोचना की जरूरत' अनिवार्य अन्तर्विरोध दूसरे लिए शब्द आदि पर भी तर्क संगत विवेचना देखने की मिलती है। यहां समकालीन कलाओं से साहित्य का एक नया संबंध भी उन्होंने बनाने की कोशिश की है। संस्कृति के विरूद्ध साहित्य और सत्ता और संस्कृति जैसे लेखों में उनके आलोचात्मक विवेक के नये तेवर और समझ देखने को मिलती है। समय के अर्न्तविरोधों के साथ शब्द स्मृति और कलाओं के पड़ोस की यहां जीवंत और केन्द्रीय करने की कोशिश महत्वपूर्ण है।

निष्कर्षतः अशोक वाजपेयी क आलोचना में अपने समय की कविता की सूक्ष्म और गहरी विश्लेषण क्षमता तो ही, वह भारतीय संस्कृति और कलाओं की इस बीसवीं सदी के उपभोक्तावादी समाज में साहित्य के द्वारा संवाद आरम्भ करके स्थापित करने का माध्यम बनने का जोखिम भी उठा रही है। किसी आलोचक को अब तक अशोक वाजपेयी की तुलना में कलाओं की समझ के लिए उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाने का कारण क्या है? वही संवाद हीनता, जिसे अशोक वाजपेयी की कलम ने तोड़कर साहित्य में भी वह सब शामिल किया जिससे साहित्य की एक नयी शक्ति उभर सकती है। समाज कविता और अन्य साहित्यिक विधाओं के अलावा भी कुछ महत्वपूर्ण साहित्य से पा सकता है, सहेज सकता है।

लेखक केवल भारतीय संस्कृति और कलाओं को ही आलोचना में शामिल नहीं कर रहा वह और भी महत्व के विषयों को यहां जरूरी स्थान देने की मांग करता है उसने कहा भी है कि "हिन्दी आलोचना के लिए यह बहुत दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति है कि वह ज्यादातर निरे साहित्य पर अवलम्बित है, उसी से अपना जीवत्व पाती है। विचार के लिए जो नए क्षेत्र हैं जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि उस सबका विकास हिन्दी में नगण्य है, किसी आलोचक के लिए या किसी समय की आलोचना के लिए अशोक वाजपेयी ने बताया कि केवल कविता या अन्य विधाएँ ही महत्वपूर्ण नहीं है उसे समाज संस्कृति के जरूरी पक्षों स्वयं

आलोचना पर भी सार्थक और गम्भीर विचार करना चाहिए। तभी आलोचना सार्थक होगी और उसका काम समाज और संस्कृति के विकास में कुछ सृजनात्मक पहल कर पायेगा।

अतः अशोक वाजपेयी की समीक्षा योजना "एक सतत् योजना" रही है उनके सरोकार लगातार स्थिर रहे हैं। 'सहमति असहमति' अपनी जगह है "उनकी समीक्षा योजना प्रोवोकेटिव रही है।"[59] यह उनके अन्य से संबंध स्थापित करने उस पर कुछ लिखने का तरीका है जिसे अरविन्द त्रिपाठी ने साक्षात्कार में 'छेड़छाड़पूर्ण' की संज्ञा दी है। अशोक वाजपेयी की आलोचना की यह विशेषता हैं कि वह सीधी सपाट रचना में ही नहीं खो जाती है वह आजू-बाजू कटाक्ष किए बिना नहीं रहती। इसी कारण विवादास्पद समीक्षाओं में भी सबसे अधिक विवादास्पद समीक्षक माने जाते हैं। आलोचना हर कसौटी पर खरी उतरती है, उन्हीं के शब्दों में कहूं तो अशोक वाजपेयी की समूची आलोचना सही अर्थ में समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप तो है ही साथ ही आलोचना के परिदृश्य रचना प्रक्रिया में भी एक कारगर और जरूरी हस्तक्षेप है। उनके यहां लोकतंत्र है, सत्ता है, समाज है, कविता है और उसके पक्ष खड़ी उनकी आलोचना है, कलाएं है, संगीत है, नृत्य है, स्वीकार है, विरोध है, लोग हैं, साहित्य है संस्कृति है। विचार है, विचारधारा नहीं तर्क खण्डन है, स्थापना है यह अनेक बिन्दु अशोक वाजपेयी की सृजनात्मकता के, उनके विचार विमर्श और आलोचना के विकास के तत्व है।

अशोक वाजपेयी की आलोचना में सृजन की, विचार की, समझ की और कुल मिलाकर साहित्य की ताजगी है तो समकालीन साहित्य में आधी उदासीनता, उबाऊपन और बासीपन के खिलाफ विकसित हुई है यह ऊबाऊपन और उदासीनता हिन्दी के धंधई और अकादमिक साहित्य के कारण पैदा हुआ था जिसे अशोक वाजपेयी और उनके समकालीनों ने उस तोड़ा और हिन्दी साहित्य को, आलोचना को नयी जमीन दी।

समय से बाहर

'समय से बाहर' अशोक वाजपेयी के साहित्यिक सांस्कृतिक कर्म की अनूठी पुस्तक है जिसमें संगीत, चित्रकला, फिल्म साहित्य आदि पर उनके आत्मीय निबंध है। इस पुस्तक के मूल में जो चिंता है "वह यही है कि जो सांस्कृतिक समय है या जो कलाओं का संगीत का चित्र का कविता का समय है उस समय

को शायद अब गिना नहीं जाता। गणना में नहीं लिया जाता। हम अजीब तरह से आर्थिक समय में, सामाजिक समय में, ऐतिहासिक समय में रहने लगे हैं जबकि कलाएं मनुष्य को सामाजिक और ऐतिहासिक समय से बाहर भी एक समय रचने की जगह देती है, सामाजिक और ऐतिहासिक समय के दबाव से कला और साहित्य की मुक्ति के प्रश्न उठाने वाली इस पुस्तक का नाम इसी अर्थ में 'समय से बाहर' है।''[60] किसी और अर्थ में नहीं।

'समय से बाहर' भारतीय संगीत, साहित्य चिंतन और कलाओं की नयी परिभाषा देती है और साथ ही कलाकार और साहित्यकार को सभी भयों से मुक्त होकर सच्चाई के पक्ष में खड़े होने को उसका सामना करने को प्रेरित भी करती है।

'निर्मल वर्मा' ने पुस्तक के बर्ल्ब पर लिखा है कि 'हिन्दी की यह अपनी तरह की पहली और अभूतपूर्व पुस्तक है। हिन्दी में सम्भवतः भारतीय भाषाओं, पहली बार एक साहित्यकार ने अपने समय की कलाओं से आलोचना और रचना दोनों स्तरों पर उलझने और उन्हें अपनी विशिष्टता में समझने की कोशिश की है।''[61] हमारा समय संस्कृतियों के टकराव का समय है, यह टकराव साहित्य में बहुत पहले देखने को मिल गया था, किन्तु अब समाज में भी प्रत्यक्ष नजर आने लगा है। ऐसी विपरीत समय में कला, संगीत, नाटक, नृत्य, सिनेमा और कविता आदि पर हिन्दी साहित्य में बहस का पुरजोर सूत्रपात करना अत्यंत महत्वपूर्ण होने के साथ हिम्मत का काम भी है। विभिन्न कला माध्यमों पर समूचे हिन्दी साहित्य में निर्विवाद रूप से एकाकी पुस्तक है। इसके पहले हमारे देश की किसी भाषा साहित्य में इस तरह का कलाओं पर सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं मिलता हालाकि पश्चिम इस मामले में हमसे हमारे साहित्य के काफी आगे रहा है वहा लेखकों कवियों का दूसरे माध्यमों से संवाद का लम्बा सिलसिला हमें देखने को मिलता है। उदाहरण के तौर पर 'मार्सेल प्रूस्त के अपने प्रिय चित्रकारों पर लिखे निबंध, रिल्के का मूर्तिकार रन्दा पर किया काम और चित्रकार रेजा पर लिखी गयी चिट्ठियां, रोला बाख्त की छायाकला पर किताब और सुसान सोन्टाग के ब्रेसा और गोदार पर लिखे गये निबंधों को इस सन्दर्भ में याद किया जा सकता है।''[62] हिन्दी में छुटपुट चेष्टाएं इसके पहले हुई हैं किन्तु इतने अधिक माध्यमों पर गंभीरता से संवाद का यह पहला अवसर है।

लेखक विभिन्न कलाओं पर हमारी हमारे समय के लोगों की साहित्य की सोच क्या है? साहित्य और कलाओं की दूरी कितनी और क्यों है? इस दूरी और

अनबोलने को कैसे बहाल किया जाय? ऐसे तमाम प्रश्नों को उठाता है। और विभिन्न कलाओं के बारे में हमें किस तरह सोचना चाहिए? का मार्ग खोलता है। ''इसीलिए हम पुस्तक का जोर सिर्फ क्या सोचा जाये पर ही नहीं है बल्कि किस तरह सोचा पर भी है।''[63] लेखक अशोक वाजपेयी यहां किसी भी तरह अतिक्रमण नहीं कर रहे और न ही कोई चालू नुस्खा बांटने की भी कोई कोशिश ही करते हैं।

विख्यात साहित्यकार निर्मल वर्मा ने भी 'समय से बाहर' के बारे में कहा है कि ''पहली बार समकालीन कलाओं का समग्र परिदृश्य किसी सर्वेक्षण के माध्यम से नहीं कुछ बुनियादी सरोकारों और गहरी विचारशीलता से प्रगट होता है।''[64] अशोक वाजपेयी का यह सृजनात्मक जोखिम हमारे साहित्य का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज ही नहीं एक जीवन्त और विचारपूर्ण मुद्दा भी है और हिस्सा भी। जिसके द्वारा हम केवल कला समय इतिहास, परम्परा लोक कला संगीत नृत्य आदि पर बहस के लिए ही प्रेरित नहीं होते बल्कि इन कला क्षेत्रों से बहुत गहरे एकाकार भी होते हैं। इन विषयों पर हमारी समझ का दायरा विकसित और विचारशील भी होता है।

आखिर क्या कारण है कि लेखक ने समकालीन साहित्य के साथ कलाओं को आलोचना के लिये चुना। 'समय से बाहर' के मूल में लेखक के इस उद्देश्य को समझना जरूरी है, क्योंकि इसके बिना उपरोक्त प्रश्न का उत्तर पाना कठिन है।

'समय से बाहर' के मूल में अशोक वाजपेयी ने साहित्य की कलाओं के प्रति उदासीनता ही एक मात्र इस पुस्तक के सृजन का कारण नहीं है। और भी कारण है जैसे ''सामाजिक ऐतिहासिक समय के बरक्स कलाएं क्या दूसरा समय रखती है? रसिकता का जो अभिजात्य शास्त्रीय कलाओं को मिला है अन्य कलाओं को क्यों सुलभ नहीं? हर कला का अर्थ किस तरह अलग है? क्या आज की ललित कला इसलिए समझ में नहीं आती है कि पढ़ने के बजाय देखने पर इसरार करती है? इस अर्थ की नियति वागर्थ होना नहीं है? रंगमंच कैसे अपना नहीं हमेशा दूसरों का माध्यम है? कलाओं के अपने दूसरे क्या है? कलाओं के परिवर्तन मूलतः या अंततः सामाजिक परिवर्तन के संस्मरण या अनुषंग नहीं होते है? कलाओं और साहित्य की आपसी बेखबरी के क्या नतीजे निकले है? आधुनिकता ने कलाओं का भारतीय परिस्थितियों में वर्ण विभाजन किया है? देह आवाज का अभूर्तन नृत्य या ध्रुपद में कैसे होता है? समकालीनता और सनातन

के द्वंद का कलाओ में क्या आशय है?"[65] आदि अनेक सवालों का के समय से बाहर में अशोक वाजपेयी ने सीधे उत्तर दिये है। मैं तो कहता हूँ आधुनिक परिदृश्य में साहित्य और कलाओं से जुड़े सभी प्रश्नों का एक मात्र उत्तर 'समय से बाहर' की आलोचना है।

लेखक जिन प्रश्नों को उठाता है उन पर पूरी सूक्ष्मता से विचारपूर्ण, सक्षम एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में विश्लेषण भी वह करता है। और बहस के लिए हमें अवसर भी देता है। जबकि कोई "कवि या साहित्य का आलोचक कलाओं से उलझे ऐसी प्रथा हिन्दी में नहीं है अकसर साहित्य ही उसकी हदबंदी है यहां इस कवि समय से आलोचनात्मक रूढ़ि से बाहर जाने का उद्यम है इसीलिए समय से बाहर है।"[66] "हमारा समय याने कम से कम बीसवीं शताब्दी मुख्य रूप से राजनैतिक, आर्थिक समय है। इस शताब्दी में चारित्रिक मुहावरा चूंकि राजनैतिक है साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में भी इन दिनों बात शक्ति, प्रभुत्त और सत्ता की पदावली में की जाती है।"[67] एक बात हिन्दी साहित्य में पीछे बहुत दूर तक देखी जा सकती है कि हमारे यहां अकसर साहित्य को अधिक समकालीन होने या हो सकने की संज्ञा दी जाती है साथ ही साहित्य को विचारपूर्ण माना जाता है और कलाओं को यह स्थान नहीं दिया जाता है क्यों? क्या कलाएं विचार के क्षेत्र में नहीं आती? आती हैं किन्तु कलाओं को लेकर पूर्वाग्रह काफी गहरे है।" एक ओर गम्भीर आलोचना बुद्धि ने लगातार कलाओं की उपेक्षा की है और उन्हें विचारणीय नहीं माना है तो दूसरी ओर कलाकारों ने भी साहित्य में कोई खास दिलचस्पी नहीं ली है। कुल मिलाकर यह कहना यह कहना गलत न होगा कि साहित्य और कलाओं के बीच लगभग मुहबोला तक नहीं है।"[68] ऐसे माहौल में अशोक वाजपेयी का साहित्य और कला के बीच संवाद का मार्ग बनाना सचमुच उनके संघर्षमय साहित्यिक जीवन का प्रमाण है। आलोचना का अर्थ हमारे यहां सीधा साहित्य आलोचना से माना जाता है। आलोचना केवल साहित्य के विश्लेषण परख के औजार के रूप में प्रचलित है, मान्य है, आलोचना की इस चहारदीवारी को तोड़कर अशोक वाजपेयी ने कहा है कि "अगर साहित्य की आलोचना में पहचान परख, पड़ताल, बखान, सरोकार, तनाव, रूझान जैसे आमफहम शब्द नयी अवधारणाओं और औजारों के वाहक बने हैं तो कोई कारण नहीं कि कलाओं के हलकों में प्रचलित ऐसे ही शब्दों को जैसे मुकाम, ठहराव, तबियत, तैयारी, चमक, लपक, निकासी आदि को बारीकी और परिष्कार के साथ इस्तेमाल कर एक ऐसी नयी भाषा विकसित करने में सफलता न मिले।"[69] लेखक केवल

कलाओं की आलोचना के लिये औजार विकसित करने तक ही नहीं रह जाने की पहल करता है वह प्रत्येक 'कला' की पृथक आलोचना भाषा विकसित करने की मांग भी कर रहा है।

'समय से बाहर' के केनवास में साहित्य और कलाओं के समय की सूक्ष्म और विचारपूर्ण व्याख्या अद्वितीय है यहां लेखक ने समय को 'मनुष्य की रचना' कहा है। और उसको लांघने की, उसके पार जाने की आकांक्षा भी मनुष्य की होती है। मनुष्य और समय के सम्बन्ध को पहली बार अशोक वाजपेयी ने साहित्य सृजन और कलाओं के आधार पर विश्लेषित किया है। यहां समय एक इकाई के रूप में नहीं बल्कि सृजन समय के रूप में देखने को मिलता है।

लेखक या कलाकार से दो टूक फैसले की मांग करना उचित नहीं है क्योंकि ''साहित्य और कलाएं मनुष्य की स्थाई गोधूलि है। जहाँ कुछ भी साफ-साफ नहीं दीख पड़ता जिसमें रहकर ही मनुष्य की उसके संसार और लोक को परम वैध्यता चरितार्थ होती है।''[70]

हमारे युग में साहित्यकार और कलाकार, संगीतकार की सोच क्या रही है उसके हस्तक्षेप किस हद तक रहे हैं, ऐतिहासिक तत्वों से खोज खबर लेकर साहित्य कुछ पूर्व बिन्दुओं का कलाओं के साथ संबंध रहने और आधुनिक समय में समाज में इस संबंध के टूटने, समकालीनता के आतंक के हावी होने आदि को लेखक ने बड़ी विचारणीयता और गहराई से विवेचित करने का प्रयास किया है।

''साहित्य और रंगमंच से रूपंकर कलाओं और सिनेमा से स्थापत्य और वास्तुकला से हम यह उम्मीद करते हैं कि वह हमारे समय को, उनकी बुनियादी और तात्कालिक चिन्ताओं और जिज्ञासाओं को उनकी उलझनों और सम्भ्रमों को हमारे लिए विन्यस्त करेंगे पर हम संगीत से ऐसी अपेक्षा नहीं करते हैं''[71] क्यों? ''क्या इसलिए कि हम उसे इस अर्थ में एक सर्वथा निरपेक्ष कला मानते हैं जिसका काम हमें रस और आस्वाद के अवसर देना है, हमारे बुनियादी प्रश्नों से जूझने की कोई समझ या शक्ति देना नहीं''[72] ऐसी बात नहीं है संगीत भी अपने समय के दबाव से अछूता नहीं रहता है संगीत में हमारे समय के प्रश्न वैसे प्रत्यक्ष हमें नजर नहीं आते जैसे अन्य कलाओं में। क्योंकि ''संगीत का संसार हमारे लिए प्रमुखतः भावनाओं का संसार है, विचारों का नहीं।''[73]

संगीत 'सुनने गुनने का अर्थ' क्या सिर्फ रस लेना है? आस्वाद लेना है और कुछ नहीं? संगीत क्यों अन्य कलाओं, कला माध्यमों से भिन्न और अभी

तक उसी शाश्वता में जी रहा है? उसमें बदलाव आया है तो कहां तक आया है? और यदि नहीं आया है तो कैसे आ सकता है समय के साथ विचार तो बदलते हैं भावनायें नहीं"[74] क्या सिर्फ इसीलिए संगीत हमारे समय को सीधे अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। यह सदी परिवर्तन की सदी है इसमें हमें जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तनों का बोलवाला नजर आता है, पर संगीत में इन परिवर्तनों का सिलसिला हमें नजर नहीं आता क्यों? क्योंकि वह "परिवर्तनगामी होने के बजाय वह परम्परा जीवी अधिक है उसका आग्रह जो रहा है आया है, जो इतनी सदियों चलता आया है उसे बचाये रहने का अधिक और उसमें कुछ नया जोड़ने या उसे बदलने का क्रम रहा है। शायद इसीलिए कई बार दूसरी कलाओं के लिए संगीत एक विलोम, एक प्रतिकल्प बनकर ध्यानाकर्षण करता है"[75] किन्तु फिर भी संगीत में हमें "वह जो तेजी से बदल रहा है उसके बरक्स जो बहुत कम बदलता है"[76] दीखता है। "संगीत के लिए इतिहास एक अप्रासंगिक अवधारणा है। उसके लिए तो जो था वही है और वही होगा कुछ भी संगीत में बीतता नहीं है और इस अर्थ में वह इतिहास के बंधन, उसकी कारा से मुक्त है उसकी परम्परा है पर इतिहास नहीं है।"[77] इसी अर्थ में वह समय में होते हुए भी समय से बाहर है। उसके आरपार है। अनुपस्थित नहीं। इसी कारण वह अन्य कलाओं से कमतर करके नहीं आंका जा सकता। वह भी "कुछ इस भाव से कि जो समकालीन नहीं है वह सार्थक या मूल्यवान नहीं हो सकता।"[78] संगीत "समकालीनता और उसके आतंक को उनकी सही औकात जताता है उनके कद को छोटा नहीं करता पर शायद उन्हें उस कद के जरूरत से ज्यादा ऊंचे और प्रमुख होने की खुशफहमी से मुक्त होने के लिए प्रेरित और कभी कभार हो सके तो विवश करता है।"[79]

समकालीनता से आक्रान्त कलाओं और शाश्वत कलाओं की अशोक वाजपेयी ने प्रामाणिक तुलना की है और दोनों को हमारे समय में मूल्यवान माना है। उन्होंने कहा है "समकालीनता से आक्रांत कलाएं अगर राजनीति से मिलती-जुलती हैं इस अर्थ में तो संगीत धर्म और आध्यात्म से।"[80] इसीलिए "संगीत को किसी भी समाज या संस्कृति की सबसे अद्वितीय और विश्वसनीय पहचान इसीलिए कहा गया है कि उसकी शाश्वत अस्मिता का शायद सबसे स्थायी और सबसे कम परिवर्तनीय रूप है।"[81]

लेखक ने संगीत और अन्य कलाओं की विश्वसनीय और विश्लेषणपरक समीक्षा की है। हमारे समय के इन कलाओं के बारे में ध्येय को उनकी पहचान

और आवश्यकता, उनकी चुनौती और स्थिति की सार्थक विवेचना की है। जो हमारे पश्चिम की ओर भागते समाज के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। लेखक साहित्य और अन्य कलाओं से आक्रान्त समय में शाश्वतता को भी स्थापित करता है और उसे संस्कृति और राष्ट्र की अस्मिता के साथ जोड़ता हुआ भी देखा जा सकता है। किन्तु वह इस शाश्वतता के समय से बाहर होने को गहरे महसूस भी करता है और अपेक्षा भी करता है कि वह हमारे समय में अन्य कलाओं की तरह शामिल हो जीवन्त हो और हम उसे 'सुनने' के साथ 'गुन' भी सके।

'समय से बाहर' के केनवास में लेखक ने संगीत के प्रति साहित्य के रूख और दोनों की समसामयिक सन्दर्भ में सूक्ष्म व्याख्या की है। तथा उसे भारतीय समाज और संस्कृति के साथ नये रूप में जोड़ा है। कुमार गंधर्व और मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी अशोक जी की कविताएं अद्वितीय हैं। इन कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि लेखक अपने समय के साहित्य के साथ समकालीन कलानायकों के प्रति भी पूरा चौकन्ना है यहां यदि समकालीन संगीत की केन्द्रीय उपस्थिति है तो हमारे समय में नृत्य की क्या स्थिति है? इस पर भी उन्होंने गहन विचार किया है।

यहां कुमार गंधर्व की गगन भेदी लय है तो नृत्य देह का देशकाल भी है। दूसरों की उपस्थिति में रंगमंच की क्या स्थिति है लेखक ने गहन विवेचना की है। यहां हुसैन के चित्रों के रंग हैं तो इन सब के साथ भावनाओं विचारों और साहित्य में मील का पत्थर बनी अशोक वाजपेयी की विभिन्न कलाकारों पर लिखी कविताएं भी हैं जो अशोक वाजपेयी की साहित्यक चेतना और सर्जना का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

संगीत और रूपंकर कलाओं के अलावा 'समय से बाहर' में कविता के सत्य की भी लेखक ने मौलिक विवेचना की है जिसकी तुलना हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध 'कविता क्या है' से कर सकते हैं। किन्तु यहां भी लेखक इस पुस्तक के शीर्षक 'समय से बाहर' से यहां भी कविता के गल्प में आक्रांत है। पर उसने कविता के आंतरिक पक्षों और तनावों तथा सत्यों को विश्लेषित किया है। कविता के समय के अलावा और भी समय है पहले भी था और बाद में भी होगा। हम कविता के पास सत्य पाने या खोजने नहीं जाते बल्कि सचाई का अहसास पाने उसमें शामिल होने जाते हैं। कविता सत्यकथन या संशोधन नहीं करती वह सचाई से अपने गल्प पढ़ती है।"[82] अशोक वाजपेयी की आलोचना यहां फिलहाल और 'कुछ पूर्वग्रह' वाले व्यक्तित्व से अलग है। यहां

लेखक ने एक तरफ अनेक नये विषयों को समसामयिक सन्दर्भ और पहचान के लिए बहस का मुद्दा बनाया है तो 'कविता का गल्प' जैसे लेखों में वह अपनी ही अगली पिछली बातों की पांडित्यपूर्ण शैली में व्यक्त करता दिखाई देता है। वह कुछ साफ साफ कह नहीं पाता इसलिए शब्दों का कुछ मायाजाल सा बुनने लगता है। फिर भी विषय और विचारों की नवीनता तथा विश्लेषण परकता के कारण कविता के अनेक अर्न्तपक्षों को हमें यहां पहली बार समझने के अवसर मिलते हैं।

निष्कर्षतः 'समय से बाहर' केवल साहित्य और कलाओं के संवाद की ही पुस्तक नहीं है यह हमारी संस्कृति के केन्द्रीय तत्वों से संबंध की पुर्नस्थापना भी है। इसमें हमारी ठेठ आदिवासी कलाओं को विचार का विषय बनाया गया है तो रंगमंच संगीत और श्रोता के साथ-साथ पश्चिम के साहित्य में वहां की कलाओं के निरंतर सक्रिय संबंध को भी व्यक्त किया गया है। लेखक का उद्देश्य यहां केवल साहित्य और कलाओं के बीच मुंहबोला स्थापित करना ही नहीं है बल्कि लेखक का लक्ष्य इसके साथ यह भी है कि साहित्य की तरह अन्य कलाएं भी अपनी अभिव्यक्ति में कम शक्तिशाली नहीं है। इसलिए समाज में बढ़ रहे टकराव और चुनौतियों का सामना करने के लिए साहित्य ही आज काफी नहीं रहा है और कलाओं की भी अपनी अभिव्यक्ति में साहित्य से कम प्रभाव और शक्ति निहित नहीं है। इसलिए कलाओं की उपयोगिता और शक्ति को साहित्य के ही समान पैना और प्रखर बनाने तथा कलाओं को आमजन और सामाजिक निर्माण में प्रमुखता से हिस्सेदारी करने का भी उद्देश्य रहा है। यह चिन्ता हमें लेखक में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। वह साहित्य को कलाओं की आवाज बनाना चाहता है क्यों? क्योंकि साहित्य के पास शब्द का लिखित रूप है हालाकि चित्रकला शब्द से भी प्रखर माध्यम है किन्तु यह युग शब्द का है इसलिए लेखन ने साहित्य के साथ कलाओं की आलोचना का रास्ता अपनाया। और सबसे पहले साहित्य और कलाओं के मध्य संवाद को बहाल करने की पहल की।

यहां लेखक की कलाओं के प्रति रूचि अकारण नहीं है बल्कि साहित्य के साथ साथ संगीत, चित्रकला, गायन, नृत्य अभिनय आदि का उनका गहरा लगाव अध्ययन और समझ उनके यहां मौजूद है जिसे उन्होंने भाषा में सहज रूप में विवेचित किया है।

'समय से बाहर' अशोक वाजपेयी की साहित्यक यात्रा का एक अनूठा पड़ाव है जहां संगीत, चित्र, नृत्य, रंगमंच और रूपकर कलाएं, गद्य और पद्य दोनों

रूपों में लेखक की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी है। यहां लेखक जितना साहित्य और अन्य कलाओं के संबंध को स्थापित परिभाषित कर रहा है वहीं इन कलाओं की बारीक समझ भी यहां विन्यस्त है। हिन्दी साहित्य में यह इतनी विविधताओं से भरी पहली पुस्तक है जिसमें समकालीन साहित्य और कलाओं की विचारपूर्ण व्याख्या अध्ययन और विश्लेषण किया है।

सम्पादित साहित्य

अशोक वाजपेयी कवि और आलोचक के अलावा स्वतंत्र भारत के हिन्दी जगत में एक जाने-माने प्रख्यात सम्पादक भी हैं। जो उनकी साहित्यिक हस्तक्षेप की पहचान का एक सक्षम कारण भी है। उन्होंने सबसे पहले सागर म.प्र. से सन् 1957 में 'समवेत' के संपादन से अपनी सम्पादन यात्रा का आरम्भ किया था, उसके बाद 1970 से 74 तक उन्होंने समकालीन कविता के मंच के रूप में सीधी, सरगुजा भोपाल (म.प्र.) से 'पहचान सीरीज' का सम्पादन किया। 'पहचान सीरीज' के सम्पादक के रूप में वे आज भी खूब याद किये जाते हैं। 'पहचान सीरीज' ने उन अनेकों कवियों को पहला मंच दिया जो बाद में हिन्दी कविता जगत में स्थापित हुए, इनमें कुमार विकल, विनोदकुमार शुक्ल, चन्द्रकांत देवताले, विष्णु खरे आदि के नाम शामिल हैं। साठोत्तर हिन्दी कविता में 'पहचान सीरीज' का महत्व हमेशा याद किया जायेगा।

संभवतः स्वतंत्र भारत के विगत 50 वर्षों के इतिहास में हिन्दी साहित्य की सम्पादन परम्परा में अशोक वाजपेयी एक बड़े नाम के रूप में स्थापित हुए हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अशोक वाजपेयी अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने अनेकों कवियों लेखकों को उपयुक्त जगह देकर कुछ मुट्ठी भर लोगों के हिन्दी साहित्य पर स्थापित साम्राज्य या तानाशाही की चुनौती दी। ऐसी प्रतिभा कम ही लोगों में देखने को मिलती है पिछले चालीस वर्षों से हिन्दी साहित्य में उनकी उपस्थिति चर्चा का विषय बनी हुई है। 'पूर्वग्रह' पत्रिका के द्वारा अशोक वाजपेयी ने हिन्दी आलोचना को नयी दिशा नही नहीं दी, उसके सोच के दायरों में भी बहुत कुछ नया जोड़ा भी है। 'पूर्वग्रह' पत्रिका के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य ही नहीं दिशा ही नहीं दी, उसके सोच के दायरों में भी बहुत कुछ नया जोड़ा भी है। 'पूर्वग्रह' पत्रिका के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य ही नहीं भारतीय संस्कृति और कलाओं के संरक्षण और विकास की पहल भी की है। लोगों ने 'पूर्वग्रह' को सत्ता की पत्रिका कहा उस पर तरह तरह के आरोप लगाये किन्तु मेरी समझ में नहीं आता

कि ऐसे लोगों को एक साहित्यकार और एक साहित्यिक पत्रिका से क्या चाहिए। अपने समय के सभी विशिष्ट रचनाकारों की रचनाओं और अन्य साहित्य से जुड़े क्षेत्रों की जिस तरह लगातार 'पूर्वग्रह' ने पड़ताल की है उससे हिन्दी साहित्य जगत में कई रचनाकारों को उनकी सही जगह मिल पायी है, फिर भी आरोपों प्रत्यारोपों का सिलसिला चलता रहता है। यह हमारे यहां एक बहुत बड़ी कमी है कि हम किसी के कार्य की सराहना और सहयोग तो कर नहीं पाते इसलिए अपने बचाव का सस्ता रास्ता ढूंढकर उसके किये धरे को मटियामेट करने का काम लगते हैं। 'पूर्वग्रह' के 1 से 103 अंकों तक चली आ रही उसकी सार्थक उपस्थिति इस सब के बावजूद आज भी थमी नहीं है। इधर पिछले वर्षों में अनियतकालीन साहित्यिक पत्रिका 'समास' का भी नाम तेजी से उभरा है। 'समास' में अपने समय के साहित्यिक सामाजिक दबाव के साथ-साथ समकालीन रचना आलोचना और संगीत, चित्रकला आदि पर भी एक सार्थक बहस देखने को मिलती है। अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा केवल पत्रिकाओं तक ही सीमित नहीं है उसमें हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण लेखकों कवियों के रचना संसार पर एकाग्र ग्रंथ भी शामिल है। वे अपने आलोचना की समकालीन चहारदीवारी से अब लगभग बाहर आ चुके हैं। अब उनकी सम्पादन परम्परा से यह बात स्पष्ट हो चली है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में भारत भवन जैसे कला केन्द्र की स्थापना अशोक वाजपेयी की ही देन है जो एशिया का सबसे बड़ा कला केन्द्र है।

अशोक वाजपेयी के महत्वपूर्ण सम्पादन ग्रंथों में 'कुमार गंधर्व' (निबंधों और साक्षात्कारों का संग्रह) (1982)

'तीसरा साक्ष्य' (सृजनात्मक समीक्षाओं का संचयन) (1979)

'साहित्य विनोद' (लेखकों से साक्षात्कार) (1984)

'कला विनोद' (कलाकारों से साक्षात्कार) (1986)

'पुनर्वसु' (संसार भर की कविताओं के एक संचयन का हिन्दी अनुवाद) 'निर्मल वर्मा' (विभिन्न समीक्षकों द्वारा लिखे निबंधों का संग्रह) (1990)

'कविता का जनपद' (कविता और कवियों पर विविध विद्वानों के निबंधों का एक संचयन) (1993)

इस समृद्ध सम्पादन ग्रंथों की परम्परा के अलावा उन्होंने दो बंगला कवियों 'शंख घोष' और 'शक्ति चट्टोपाध्याय' की कविताओं के संयुक्त संग्रह का हिन्दी अनुवाद, तथा मराठी कवि दिलीप चित्रे की कविताओं के एक संग्रह का भी

हिन्दी में अनुवाद तथा मलयालम कवि के, सच्चिदानंद की कविताओं के एक चयन का भी हिन्दी अनुवाद का संपादन किया है यह विविध भाषा साहित्य और रचना-शीलता से भरी अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा हिन्दी साहित्य की स्वतंत्रोत्तर पीढ़ी की गौरव मयी धरोहर है। जिसे साहित्य में श्रेष्ठतम हस्तक्षेप कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है।

अतः अशोक वाजपेयी आधुनिक हिन्दी साहित्य ही नहीं भारतीय भाषाओं के साहित्य के भी हिन्दी में एक बड़े सम्पादक है। उनका समृद्ध साहित्यिक हस्तक्षेप इस बात का प्रमाण है। निष्कर्षतः अशोक वाजपेयी का हिन्दी कविता, आलोचना और सम्पादन में गहरा और सार्थक हस्तक्षेप देखने को मिलता है। काव्य में उनके यहां यदि जीवन की इसी विद्रूपता में स्मृतियों और वस्तुओं की संवेदनाओं को स्पर्श किया गया है। तो काव्य से लगभग पूरी तरह बहिष्कृत हो चुकी प्रकृति की छवियों और श्रृंगार तथा प्रेम को उन्होंने साठोत्तर हिन्दी कविता में पुनः स्थापित किया है। अशोक वाजपेयी देह और गेह के नहीं जीवन के जीवित पक्षों के हिन्दी कविता के स्थापित करने के कवि हैं साठोत्तर हिन्दी कविता में मोहभंग से उपजी परिस्थितियों के कारण जो आक्रोश फूटा था उसने हिन्दी कविता में प्रकृति श्रृंगार और प्रेम को लगभग पूरी तरह दृश्य से धकेल दिया था। इसी समय अशोक वाजपेयी के काव्य में केवल प्रकृति या 'प्रेम और श्रृंगार' ही केन्द्रीय नहीं है, उनके काव्य में समकालीन कला, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि की भी जीवन्त छवियां हिन्दी कविता में पहली बार काव्य विषय बनी हैं। अशोक वाजपेयी के काव्य जगत में परिवार की सूक्ष्म स्मृतियां हैं जो उन्हें माँ, पिता, बहिन, बेटी, बहू पर कविता लिखने को बाध्य करती हैं। उनके यहां कविता में दार्शनिकता के साथ जीवन की नश्वरता के विरूद्ध एक महत्वपूर्ण संघर्ष भी गहरा है। तो बकौली, कंठचंदन के पेड़ों से लहलहाता अपना सागर का किराये का घर भी है और जीवन्त प्रकट होता बचपन है। मुहल्ले के लोग है घर के लोग हैं। या कहूँ कि वस्तुओं की स्मृतियों को पकड़ती कविता है। उनके साथ जीती कविता है। भाषा का काव्य में उन्होंने अद्‌भुत प्रयोग दिया है, वे अपने काव्य में भाषा को याद करते हुए तो दीखते ही हैं साथ ही उन्होंने समकालीन कविता के चालू शब्दों के विरूद्ध तत्सम शब्दों का कोमलतम समझनीय प्रयोग किया है।। तत्सम की वापसी का सहज उपक्रम अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा को अन्यों से अलग करता है। उनका काव्य जीवन के इसी परिवेश में प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह बनाता हुआ काव्य है। प्राचीन भाषा और प्राचीन

कवियों की 'अनुगूंज' भी यहां स्पष्ट सुनी जा सकती है। अपने समकालीनों कुमार विकल, श्रीकान्त वर्मा, विष्णु खरे प्रयाग शुक्ल आदि से अशोक वाजपेयी भाषा और काव्य स्तर पर थोड़े से भिन्न हैं।

आलोचना की बात करते ही अशोक वाजपेयी के नाम से साथ समकालीन शब्द पहले आ टपकता है क्योंकि अशोक वाजपेयी की आलोचना का श्रीगणेश समकालीन आलोचना के रूप में 'फिलहाल' से हुआ था। 'फिलहाल' में मोहभंग के वातावरण से उपजे कविता आन्दोलनों का विश्लेषण और सही कविता की पहचान की परख यहां मौजूद है। तमाम आक्रोश विरोध की कविता में से अशोक वाजपेयी ने समकालीन कविता के सार्थक पहलुओं का विश्लेषण किया। यहां लेखक मे तर्क संगत खण्डन-मण्डन की आधारभूत उपस्थिति है तथा कविता की भाषा अभिव्यक्ति और उसकी सार्थकता का गहन विश्लेषण है। अशोक वाजपेयी की आलोचना में हमें 'आई.ए. रिचर्डस' के सिद्धांतों का प्रभाव नजर आता है पर उतना नहीं। 'फिलहाल' की आलोचना भाषा स्पष्टतः रचना से संश्लेषित प्रभावों की भाषा है जिसमें तर्क संगत खण्डन-मण्डन है तो कुछ स्थापित करने के प्रयत्न भी हैं। यहां आलोचना समकालीन रचना से समकालीन मनुष्य की हालत की पड़ताल है। जिसे लेखक ने स्पष्टतः अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही कहा है। 'फिलहाल' में समकालीनता के आतंक के साथ-साथ साहित्य के अनेक जरूरी पक्षों पर भी गहनतम विचारपूर्ण विवेचन, लेखक के दूरदर्शी और साहित्यिक समझ तथा अध्ययन को दर्शाता है। अपने समकालीनों जैसे मलयज, विष्णु खरे रमेश चन्द्र शाह, विजय देव नारायण साही, कुमार विकल आदि समीक्षकों में अशोक वाजपेयी 'फिलहाल' के केनवास में गहन पड़ताल, सूक्ष्म अध्ययन, तर्कपूर्ण पक्ष-विपक्ष की सार्थक उपस्थिति, भाषा में स्पष्ट दोटूकपन के कारण सबसे महत्वपूर्ण आलोचक हैं। वे मार्क्सवादी नहीं हैं पर कहीं कहीं रचना की पड़ताल के लिए मार्क्सवाद का भी उपयोग करने से नहीं हिचकते इसीलिए उन्हें नामवर सिंह के बाद की पीढ़ी में सबसे सक्षम आलोचक की संज्ञा दी गई है।

'फिलहाल' के पश्चात् अशोक वाजपेयी की दो पुस्तकें और उनके समीक्षा जगत के विकास को दर्शाती है। एक तो 'कुछ पूर्वग्रह' जो अशोक वाजपेयी की आलोचना का दूसरा सोपान है और कविता की वापसी का विनम्र एलान भी। यहां अशोक वाजपेयी की आलोचना की धार पहले से थोड़ी मोथरी हुई है साथ ही कविता में भी हल्का सा ठण्डापन आया है कुछ कुछ 'नयी कविता' के जैसी

स्थिति यहां बनी है फिर भी वैसी नहीं। भाषा और खण्डन-मण्डन तो यहां भी है पर वैसा नहीं फिलहाल में था साथ ही यहाँ आलोचना में कुछ नए क्षेत्र भी शामिल किये गये है यहां कविता के अलावा समकालीन कलाकारों को भी संगीत, चित्रकला आदि पर विचार के लिये उठाया गया है। यह अशोक वाजपेयी की आलोचना का नया द्वार भारतीय कलाओं की समीक्षा की तरफ खोला गया है। जिस पर अनेक लोगों ने बड़ी आपत्ति दर्ज कराई है। कहने वालों ने तो उन्हें कहा है कि अशोक वाजपेयी ने जिस कलावाद का विरोध करके ही आलोचना में पांव जमाये थे उसी कलावाद के वे एक ही झटके में अज्ञेय के अवसान के बाद समर्थक हो गये। किन्तु मैं उन लोगों को बताना चाहता हूँ कि अशोक वाजपेयी का वह विरोध तब जायज था और उन्होंने कलाओं का विरोध कभी नहीं किया वे आरम्भ से अपनी आलोचना में भारतीय संस्कृति प्राचीन भाषा, शब्दों आदि के प्रबल समर्थक के रूप में उभरे थे। समकालीन कविता की समीक्षा से आलोचना यात्रा आरम्भ करने वाले अशोक वाजपेयी को पहले 'समकालीनता' में कैद भी लोगों ने कहा किन्तु बाद में उन्होंने समकालीनता के विश्लेषण को खुद ही तोड़ने की बात कही और कहा कि थोड़े से समय में ही कोई समकालीन और प्राचीन साहित्य की समीक्षा नहीं लिख सकता उसके लिए दोनों क्षेत्रों में हस्तक्षेप में समय तो लगता ही है। फिर भी अशोक वाजपेयी की आलोचना में आरम्भ से भी भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम्परा का बोध होता है।

'समय से बाहर' में अशोक वाजपेयी ने भारतीय कलाओं और उनकी समकालीन स्थिति को मद्देनजर रखते हुए' अपने समय की कलाओं से आलोचना और रचना दोनों स्तरों पर उलझने और उन्हें अपनी विशिष्ट्ता में समझने की कोशिश की है।'' अतः अशोक वाजपेयी तमाम विवादों के बाबजूद स्वतंत्रोत्तर हिन्दी कविता आलोचना और भारतीय कला, सिनेमा, संगीत, नृत्य, चित्रकला, गायन, वादन आदि के एक सक्षम आलोचक चिंतक और रचनाकार है। उनके द्वारा रचा साहित्य उनकी इस विविधतापूर्ण साहित्यिक पहचान का प्रमाण है।

अशोक वाजपेयी एक कवि आलोचक होने के अलावा एक बड़े सम्पादक भी हैं। जिन्होंने लगातार हिन्दी साहित्य में अपने सम्पादन के द्वारा एक गहरी पहचान स्थापित की है। उनकी सम्पादन परम्परा में अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकायें हैं तो लेखकों, कलाकारों कवियों पर एकाग्र सम्पादित प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रंथ भी है, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को अपने समकालीन महत्वपूर्ण लोगों के रचना कर्म पर अपने समय के प्रमुख समीक्षकों, लेखकों के विचारों को एकत्र कर

प्रकाशित किया है। कुमार गंधर्व, मराठी कवि दिलीप चित्रे, मलयालम कवि के. सच्चिदानंद, निर्मल वर्मा, बंगला कवि शंख घोष, और शक्ति चट्टोपाध्याय जैसे लोगों का रचना कर्म अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा का समृद्ध हिस्सा है इसके अलावा समकालीन सृजनात्मक समीक्षा का संचयन करते हुए उन्होंने 'तीसरा साक्ष्य' ग्रंथ का संपादन भी किया है जिसमें समकालीन हिन्दी आलोचना के सभी केन्द्रीय लेखकों के लेख समाहित हैं। 'साहित्य विनोद' 'कला विनोद' जैसे दो साक्षात्कार ग्रंथ भी उनके अनूठे सम्पादन कार्य की धरोहर हैं जिनमें उन सभी महत्वपूर्ण लेखकों, कलाकारों के विचार शामिल हैं जिनमें से अनेक आज हमारे बीच नहीं है। अतः अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता, आलोचना, कला आलोचना, सम्पादन और अनुवाद के द्वारा पिछले 40 वर्षों से सक्रिय एक ऐसे व्यक्तित्व है जिन्होंने अपनी प्रशासनिक जिम्मेदाारियों को निभाते हुए हिन्दी जगत के लिए इतना कुछ किया है कि कोरे आरोपों की दम पर उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आलोचना की पहली किताब/विष्णु खरे/पृ. 11/नेशनल पब्लि. हाउस दिल्ली
2. " " "/वही
3. " " "/वही
4. साक्षात्कार 95 जनवरी मार्च/190/सं. प्रभात त्रिपाठी
5. " " "/वही
6. " " "/वही
7. " " "/वही
8. " " "/वही
9. कल्पना/210 वां अंक/134 पृ.
10. साक्षात्कार 95 जनवरी मार्च/पृ.109/प्रभात त्रिपाठी
11. " " "/वही
12. " " "वही/पृ. 110
13. " " "/वही/पृ. 111
14. साक्षात्कार सितम्बर 96/पृ. 56
15. साक्षात्कार 95 जनवरी मार्च/पृ. 111
16. साक्षात्कार 96 सितम्बर/पृ. 56
17. संवाद और एकालाप/मलयज/पृ. 40/राजकमल प्रकाशन

18. फिलहाल/दृश्यालेख/अशोक वाजपेयी/राजकमल
19. साक्षात्कार 95 जनवरी मार्च/पृ. 152/प्रभात त्रिपाठी
20. " " "वही
21. विषयंतर/मदन सोनी/पृ. 171
22. " " "वही/पृ. 172
23. " " "वही/पृ. 172
24. फिलहाल/अशोक वाजपेयी/पृ. 11
25. " " "वही
26. " " "वही
27. " " "वही/पृ. 24
28. " " "वही/पृ. 26
29. " " "वही/पृ. 20
30. " " "वही/पृ. 21
31. " " "वही/पृ. 50
32. फिलहाल/अशोक वाजपेयी/पृ. 48
33. " " "वही/पृ. 48
34. " " "वही
35. " " "वही/पृ. 55
36. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/148 सं. प्रभात त्रिपाठी
37. " " "वही/पृ. 148
38. फिलहाल/मदन सोनी/पृ. 13
39. विषयंतर/मदन सोनी/पृ. 164
40. " " "वही
41. " " "वही/पृ. 164
42. " " "वही/पृ. 167
43. " " "वही/पृ. 172
44. विषयांतर/मदन सोनी/177
45. " " "वही/पृ. 174
46. " " "वही
47. साक्षात्कार 95 जनवरी मार्च/पृ. 143/प्रभात त्रिपाठी
48. कुछ पूर्वग्रह/अशोक वाजपेयी/पृ. 147,148
49. " " "वही/पृ. 1
50. " " "वही/पृ. 63
51. " " "वही/पृ. 57

52. तीसरा साक्ष्य/संपादक अशोक वाजपेयी/पृ. 11
53. " " "वही
54. " " "वही
55. कुछ पूर्वग्रह/अशोक वाजपेयी/पृ. 12
56. " " "वही
57. " " "वही/भूमिका
58. " " "वही/पृ. 158
59. साक्षात्कार जनवरी मार्च 95/पृ. 142/प्रभात त्रिपाठी
60. साक्षात्कार जनवरी 96/पृ. 111
61. समय से बाहर/अशोक वाजपेयी/बर्ल्ब पर निर्मल वर्मा
62. साक्षात्कार जनवरी 96/पृ. 111
63. " " "वही/पृ. 113
64. समय से बाहर/अशोक वाजपेयी/बर्ल्ब पर निर्मल वर्मा
65. साक्षात्कार 96 जनवरी/पृ. 114
66. समय से बाहर/अशोक वाजपेयी/भूमिका
67. " " "वही/पृ. 9
68. " " "वही/पृ. 11
69. " " "वही/पृ. 12
70. " " "वही/पृ. 18
71. " " "वही/पृ. 30
72. " " "वही
73. " " "वही
74. " " "वही
75. " " "वही
76. " " "वही
77. " " "वही/पृ. 31
78. " " "वही
79. " " "वही
80. " " "वही
81. " " "वही/पृ. 31-32
82. " " "वही/पृ. 180

और अन्त में !

स्वतंत्र भारत में अशोक वाजपेयी का नाम हिन्दी साहित्य के विविध परिदृश्य में एक सक्रिय हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। सन् साठ के दशक से आरंभ हुई उनकी साहित्यिक यात्रा में कविता, आलोचना और कलाओं के साथ संस्कृति भी शामिल रही है। कविता और आलोचना के मौलिक ग्रंथों के अलावा उनकी बृहत् संपादन परम्परा ने समूचे हिन्दी जगत में अपनी उपस्थिति की सार्थकता सिद्ध की है और हिन्दी साहित्य को अपने सृजन कर्म से नयी दिशा दी है।

अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा उन्हीं के अनुसार 1950 में पहले गणतंत्र दिवस पर चार पंक्तियों की तुकबंदी से अंकुरित होकर आरम्भ हुई थी। उनका पहला छोटा गद्य काव्य ग्वालियर से प्रकाशित 'हरिहरदास द्विवेदी' की पत्रिका 'भारती' में छपा। तत्पश्चात् उनकी पहली कविता द्वारिका प्रसाद मिश्र की पत्रिका 'सारथी' में छपी। इस पत्रिका में उन दिनों मुक्तिबोध, श्रीकांतवर्मा जैसे लोगों की रचनाएं छपा करती थीं। मुक्त छंद में लिखी अशोक जी की पहली कविता 'हरिशंकर परसाई' की 'वसुधा' से प्रकाशित हुई। फिर तो अशोक वाजपेयी की कविताओं के प्रकाशन का सिलसिला जैसे टूटा ही नहीं। 1957 में तो वे देश की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण साहित्यकारों के बीच चर्चा का विषय ही बनने लगे। इस समय तक अशोक वाजपेयी की कविताएं 'कल्पना' 'ज्ञानोदय' 'सुप्रभात' 'राष्ट्रवाणी' और 'युग चेतना' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थी।

1956-57 के आसपास हिन्दी में नये साहित्य का संघर्ष अपने शिखर पर था इसी समय अशोक वाजपेयी ने 'सागर' (म.प्र.) से 'समवेत' का संपादन प्रकाशन आरंभ किया। यहीं से उनकी समीक्षा की शुरूआत हुई। और यह क्रम आज भी 'समास' और 'पूर्वग्रह'(103) के संपादन द्वारा जारी है।

अशोक वाजपेयी पहली बार सबसे ज्यादा चर्चा में तब आये जब उन्होंने समकालीन कविता के हस्ताक्षरों की रचनाएं अम्बिकापुर के जिलाधीश रहते हुए

1970 से 74 तक 'पहचान सीरीज' के माध्यम से कविता की संभावनाओं से जुड़े हुए लोगों की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाई। यह कविता संकलन अपनी सामयिक रचनाशीलता की छाप छोड़ते हुए उन लोगों को देश के समक्ष लाया जो उस समय मंच पर नहीं थे। संपादक के नाते श्री अशोक वाजपेयी इस श्रेय के हकदार है। 'पहचान सीरीज' ने अपरिचय के अंधकार से जिन लोगों का रचना और समीक्षा के आलोक में लाकर प्रतिष्ठत किया उनमें अनेक आज राष्ट्रीय ख्याति के कवि हैं। ऐसे लोगों में कुछ नाम अनेक आज राष्ट्रीय ख्याति के कवि है। ऐसे लोगों में कुछ नाम मुझे स्मरण हैं - विष्णु खरे, जितेन्द्र कुमार, ज्ञानेन्द्र पति के पहले कविता संग्रह, शमशेर बहादुर सिंह की षष्टिपूर्ति पर उनकी कविताएं और उनके काव्य पर रमेश चन्द्र शाह का लेख, तथा सीधी म.प्र. में आयोजित लेखक शिविर में पढ़े गये श्रीराम वर्मा, निर्मल वर्मा और मलयज के निबंध 'पहचान सीरीज' के पहले ही अंक में प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा का आरम्भ तो छटे दशक के शुरू में ही हो गया था, किन्तु रचना में परिपक्वता और भाव संप्रेषण छटे दशक के अंत में ही आकार ग्रहण करता है। स्वयं लेखक ने भी इस बात की ओर इशारा किया है। उसने रघुवीर सहाय के संपादन काल में 'कल्पना' में छपी तीन कविताओं (1958) को अपनी फुटकर कविताओं में श्रेष्ठ कविताओं में श्रेष्ठ माना है। यह वह समय था जब साहित्य और समाज में स्वतंत्रता के लिये किये गये संघर्ष का पसीना भी नहीं सूखा था कि आजादी के संघर्ष में संजोए गये सपने धूल धूसरित होने लगे थे। चीन युद्ध में 'नेहरू युग' के विकास वैभव और समाजवाद आदि शब्दों के अर्थ छिन्न भिन्न हो गये, परिणामस्वरूप हिन्दी कविता में एक बड़े बदलाव की जो चिनगारी सुलग रही थी मोहभंग के कारण पूरी तरह फट पड़ी। साठोत्तर हिन्दी कविता मोहभंग निराशा, अविश्वास और आक्रोश के धरातल पर खड़ी दिखाई देती है। किन्तु अशोक वाजपेयी ने तो 'पहचान सीरीज' के आरम्भ में ही यह घोषणा की थी कि कविता में बड़ बोलेपन और छद्म विद्रोह के खिलाफ है, राजनीति से इनका सरोकार है पर संगठित राजनैतिक दलों से नहीं।

साहित्य के मूल्य और मान्यताएं मानव मूल्यों की तरह शाश्वत हैं किन्तु इनका आवरण समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। छायावाद के उपरांत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद 1954 में जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित नयी कविता से नयी कविता एक पुख्ता आंदोलन ग्रहण करती है नयी कविता में (1943) तार सप्तक के प्रकाशन से लगातार बदलाव की लहर चलती आ रही

थी साठोत्तर में उसमें भारी फेरबदल सामने आया। यह परिवर्तन शिल्पगत और काव्यगत दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। नयी कविता में इस समय जहां पीड़ा थी मूल्यों के टूटने का दर्द था, भविष्य के प्रति आशा और विश्वास की पतली लकीर थी साठोत्तर कविता में यह विद्रोह में बदल गयी। देश की सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक परिवेश की भयावहता ने कवि के मन में विद्रोह को हवा दी। स्वतंत्रता के बाद का पूरा युग ही लगभग बैचेनी का युग है और अधिकांशतः मोहभंग के पश्चात् यही बैचेनी हिन्दी काव्य में प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई। इसी समय 'धूमिल' जैसे कवियों पर 'कल्पना' में सतीश जमाली ने तीखी भाषा में लिखा था कि ''धूमिल जैसे लोग कवि तो है ही नहीं किन्हीं विज्ञापन कम्पनियों के एजेन्ट है। यदि ऐसे लोगों में प्रतिभा नहीं है तो यह जरूरी नहीं कि लेखक बने रहे वे और कोई धंधा भी कर सकते हैं।''

साठोत्तरी कविता के पूर्व के जो विद्रोही लेखक थे उनके विद्रोह के स्वर में भी वह सब कुछ सम्मिलित था जिसे सही अर्थ में विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है। वे कवि अपने विद्रोह को पंक्तियों में उभारते हुए अपने परिवेश और अपने आस-पास का सही प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे कवियों की रचनाओं में प्रामाणिक तत्व मिल जाते हैं, और उनका भोगा यथार्थ भी। मोहभंग के पश्चात् की कविता में अनगिनत रूप और रास्ते पकड़े किन्तु शब्दों की उठापटक और चीख पुकार तथा जीभ और जांघ के भूगोल से आगे नहीं बढ़ सकी, इस तरह वह तूफान धीरे-धीरे दूसरी तरफ मुड़ गया।

इसी आक्रोश विद्रोह और निराशा के चरम की कविता के समय नयी कविता में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावनाएं लिये अशोक वाजपेयी ने ''शहर अब भी संभावना है।'' (1966) की संभावना व्यक्त की। अशोक वाजपेयी के पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' की रचनाओं को 'विष्णु खरे' ने आलोचना की पहली किताब में तीन शीर्षकों में रखा है - प्रेम, लोग तथा प्रकृति। और उसमें भी रागात्मक कविताओं मातृकरूणा की थीम नयी कविता की शायद ऐतिहासिक वस्तु है। 'एक आसन्न प्रसवा मां के लिए तीन गीत और 'स्वर्ग में नरक' जैसी मातृ करूणा की कविताएं हिन्दी कविता के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती हैं, उनमें यदि इलियट की अनुगूंज है तो भारतीय प्राचीन कवियों को भी वह अपने बाद के काव्य संसार में ध्वनित करता है। अशोक वाजपेयी के कविता संसार में केवल स्त्री-पुरूष की प्रेम की मांसलता और विह्वलता ही नहीं है उन्होंने समाज में होते हुए समाज में न होने के तनाव को भी अपने लेखन में गहरे महसूस किया है।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में आरम्भ से ही शब्दों के चयन, क्रम तथा 'एक्सप्लाइटेशन' के प्रति सुखद आग्रह रहा है। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में आरम्भ से लेकर वर्तमान तक की कविताओं में अभिव्यक्ति और शब्दों के विन्यास का सतत् विकास दृष्टिगोचर होता है।

शुरूआत में जहां अनुभूति के प्रखर दबाव में भाषा के गूंगेपन की लाचारी के रूप में कविताओं में बार बार शब्द, शब्दों में अवसाद, कविता भाषा शब्दों का भय उछलते हुए शब्द, चमक भर दे सकने वाले शब्द, ,दैनन्दिन भाषा मिले हुए शब्द, किसी पंक्ति का भूला शब्द आदि व्यक्त होते थे, उनके बाद के काव्य संग्रहों में यह भाषा के गूंगेपन की लाचारी निरंतर घटी है वे इधर की कविताओं में शब्दों की लाचारी का शिकार न होकर भाषा और शब्दों पर अधिकार सा कर लेते हैं इधर व अपनी अनुभूतियां भाषा में व्यक्त करने में सक्षम नजर आते हैं। उनके बाद के काव्य विषय भी जबकि भाषा के सिद्धहस्त व्यक्ति के अलावा साधारणतः पकड़ में आने वाले नहीं है। फिर भी अशोक वाजपेयी की कविताओं में जहां भाषा की लाचारी मिलती है। वह एलियट की ''द पेस ऑव टर्निंग ब्लड इंटु इंक'' को ही चरितार्थ करती है।

डॉ. कांतिकुमार ने अपने नयी कविता ग्रंथ में अशोक वाजपेयी को मुक्तिबोध मण्डल के कवियों में शामिल किया है। यह मोहभंग का समय था। इस समय नयी कविता में असहमति विद्रोह और आक्रोश के स्वर फूट रहे थे। साठोत्तरी पीढ़ी की एक प्रवृत्ति रही है जिसमें नयी कविता से असहमति का वैचारिक मुद्दा उतना नहीं उठा, जितना कथ्य विस्तार, कालबद्धता, अनुभव की तीव्रता और उसकी शब्दावली के खिलाफ प्रासंगिक शब्दावली के प्रयोग का आग्रह था। ऐसे कवियों में श्रीकान्त वर्मा, अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, श्रीरामवर्मा, विष्णु खरे आदि थे। सोमदत्त, नीलाम कुमार विकल, आग्नेय,भगवत रावत जैसे कुछ नाम और थे जो कविता से प्रतिबद्धता की मांग करते हुए उत्तेजना और रोमान से मुक्त कविता लिखते थे अशोक वाजपेयी व्यापक रूप से किसी आन्दोलन में शामिल नहीं हुए।

अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने आरम्भ में जिस संभावना का कवि कहा था वह संभावना उनके बाद के काव्य संसार में फलीभूत हुई है। अशोक वाजपेयी की कविताएं मानवीय होने के अनुभव और तनावों को आत्मीय स्तर पर परिभाषित करती रचनाएं तो है ही, वे दुनिया के हर कोने के विनाश के विरूद्ध कुछ गहरे मानस संबंधों में अर्थ की भी खोज लगातार तलाश करती है।

इसी मानवीय होने के तनाव की खोज अशोक वाजपेयी की कविताओं के केन्द्र में है, जो बिना शोर मचाये वहां-वहां शब्द रखने के प्रयास भी है, जहां वे पहले नहीं रहे।

समकालीन हिन्दी कविता के क्षितिज से ऐसे समय जब 'प्रेम और श्रृंगार' लगभग अपदस्थ हो चुका है अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के केन्द्र में उसे पर्याप्त जगह दी है। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में प्रेम की अनेक सूक्ष्मताएं खड़ी बोली में इन कविताओं के माध्यम से पहली बार हिन्दी कविता के परिसर में प्रवेश करती है। '' अशोक वाजपेयी ही मुक्तिबोध, अज्ञेय और शमशेर के बाद की समूची पीढ़ी में एक मात्र में ऐसे कवि है जिनकी कविता में बहुत गहरे स्तर पर एक तरह की श्रृंगारिक संवेदना है। यह श्रृंगारिक संवेदना केवल इस बात से प्रमाणित नहीं है कि उन्होंने अनेक श्रृंगारिक कविताएं लिखी है बल्कि मैं संवेदना शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूं तो कुछ-कुछ उसी अर्थ में जिस अर्थ में मैं यह कह सकता हूं कि शमशेर की कविता बहुत गहरे स्तर पर चाक्षुष संवेदन की कविता हैं किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता आरंभ से ही स्पर्श संवेदन को सक्रिय और बाध्य बनाती हैं

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार को लगभग हासिये पर फेंक दिय गया ज़बकि वह शाश्वत प्रेम ही जीवन का, मूलाधार है। अशोक वाजपेयी ने काव्य संसार में प्रेम के लिए 'थोड़ी सी जगह' मांगकर नारों, चीखों और पोस्टरों के भयावह समय में प्रेम को स्थापित करने की हिन्दी कविता में व्यवहारिक पहल की। गोपालगंज सागर के आस पड़ोस बकौली कठचंदन के पेड़ों की खुशबू से लेकर अशोक वाजपेयी की कविता सुदूर 'ला-शत्रुज' आविन्यो तक अपने में समेटे हुए है।

मनुष्य से मनुष्य और मानव समाज का संतुलन कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि चेतना के आदिम और अधुनातन स्तरों के बीच संबंध बना रहे। विरूद्धों के बीच सामंजस्य स्थापित वाली कविता की यह भूमिका अशोक वाजपेयी की कविताओं में बड़ी उत्कटता से व्यक्त की गयी है। आधुनिक सभ्यता की प्रवृत्ति संस्कृतियों के समतलीकरण की है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी जगहों की कविता एक सरीखे तनावों, संशयों और अर्न्तद्वदों से जूझ रही है कमोवेश एक सरीखी हताशा, अनास्था अथवा आस्था के दबाव में ढल रही है किन्तु क्या वास्तव में ऐसा है? अशोक वाजपेयी की कविता प्रेरणा को समझने के लिए इस तरह के प्रश्नों का सामना करना जरूरी है क्योंकि ''अशोक वाजपेयी

अपनी पीढ़ी के उन थोड़े से कवियों में है जिन्होंने न केवल नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को अपने कवि कर्म और आलोचना चिन्तन से निभाने और बखानने की, बल्कि समकालीनता की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उस दायित्व का मनुष्य को मनुष्य के चराचर परिवेश से और परम्परा से भी काफी सचेत ढंग से जोड़ने की कोशिश की है।''

अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता या 'बेख्त' की तरह जुल्मतों के समय में जुल्मतों के नहीं बल्कि काफ्का और नीत्शे की प्रसिद्ध सूक्तियों की पद्धति अपनाते हुए नरक में स्वर्ग के निष्पाप गीत गाते हैं। जो लोग हिन्दी काव्य परम्परा से वाकिफ है उन्हें इस पर कोई एतराज नहीं होगा। क्योंकि 'तुलसी' ने सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना युटोपिया रचा था। भक्त कवियों की सामाजिक मुक्ति की छटपटाहट निर्गुण सगुण प्रेम की आध्यात्मिक पदावली में प्रकट हुई थी। राष्ट्रीय नवोन्मेष की सामाजिक सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक प्रतिफलन छायावाद में हुआ था।

अशोक वाजपेयी की कविता छोटे से छोटे सच को भी खराब नहीं होने देना चाहती क्योंकि साठोत्तर हिन्दी कविता से ऐसे सच अक्सर छूटते देखे जा सकते है। अशोक वाजपेयी की कविता में उन्हें समेटने और कुछ अलग रंगत देने की कोशिश की गयी है।

जीवन के यथार्थ में केवल राजनीति की ही हिस्सेदारी नहीं होती, उसमें व्यापक संबंध भी आते हैं, जिसमें हमारा निजी सुख-दुख, घर-द्वार परिवार भी शामिल है जिसे कवि ने अपने काव्य संसार में बड़ी उत्कटता से महसूस किया है। उनका काव्य आस-पास की चीजों से गहरा अन्तर्संबंध स्थापित करता है। उन्हें संवेदनशीलता के दायरे में खींच लाती है और नयी अर्थवत्ता देती है।

अशोक वाजपेयी की कविता किसी भी आन्दोलन से बाहर की कविता है वह सभी आन्दोलनों प्रवृत्तियों के आर-पार की कविता है उनकी कविता में एक ओर पृथ्वी है दूसरी ओर आकाश। एक ओर पार्थिव और घरेलू बिम्बों की बहुतायत हैं तो दूसरी ओर देवता, पुरखे, नक्षत्र, अनन्त जैसे शब्दों से संकेतित होने वाले संस्कृति के अभिप्राय हैं। कवि को वनस्पतियों समुद्रों और लोगों से घिरी हुई पूरी पृथ्वी चाहिए। इस तरह कविता यहां समूचे ब्रहमाण्ड से घरेलू संबंध स्थापित करती है।

अशोक वाजपेयी की कवि चेतना एक विशेष अर्थ में सजग और दुहरी चेतना है उसमें प्राचीन और अर्वाचीन आदिम ओर सभ्य पास आना और जुड़ना

ही नहीं एक साथ झंकृत भी होना चाहते है, हो रहे हैं। इसके साथ दार्शनिक,धार्मिक असंगतियों विसंगतियां भी जगह-जगह उभारती है। अशोक वाजपेयी की कविता में एक खास तरह का द्वंद है जिसे विजयदेव नारायण के शब्दों में कहूँ तो इसे अशोक वाजपेयी के काव्य की अपराजेय विवशता कहा जा सकता है।

अपने असाध्य रोमानी और अतिक्रमण शील कवि स्वभाव के बावजूद बारम्बार इस उद्दण्ड समय की हरकतों से घिरे जाने की, न केवल घिर जाने की बल्कि उन्हें अपनी कविता के भीतर भी घुसपैठ करने देने की, देखा जाये तो इस मामले में भी उनकी अवस्थिति कहीं अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा के बीच की जान पड़ती है जिसमें श्रीकान्त वर्मा की खींच कुछ ज्यादा प्रबल है। हालाकि अशोक वाजपेयी अपने काव्य में शब्द सम्वेदना, शब्दचयन, सांस्कृतिक अनुगूंजों और अर्थ छटाओं के मामले में श्रीकान्त वर्मा से आगे है और उनसे भारी भी। अशोक वाजपेयी के यहां भी रघुवीर सहाय की तरह कविता जीने का उसके आशयों को आत्मसात् करने और सोचने का ढंग है। अतः स्पष्ट है अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन का काव्य है उसके विभिन्न जाने अनजाने पक्षों की अभिव्यक्ति का काव्य है।

अशोक वाजपेयी के काव्य साहित्य को किसी एक विषय की बहुलता का काव्य कहना उचित नहीं है उन पर इस तरह का आरोप निराधार है उन्होंने जितना श्रृंगार और प्रेम पर लिखा है उससे कहीं अधिक मृत्यु पर लिखा है। जीवन और मृत्यु भले ही व्यवहारिक दुनिया के सत्य है किन्तु अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में दोनों को जीवन में ही देखा जा सकता है।

अतः अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता के उन थोड़े से विरल हिन्दी कवियों में हैं जिनके होने से कविता की एक जीवित सभ्यता पुनर्सम्भव है। काव्य सभ्यता को 'पुनर्नवा' करने में अज्ञेय और रघुवीर सहाय के बाद जिन आठ दस लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है। उनमें से अशोक वाजपेयी एक हैं।

कविता में, भाषा में और साहित्य में कवि के यहां हमें ''पुरखों'' की स्मृतियों से भेंट के कई अवसर मिलते है जैसे भाषा उनके यहां पुनः प्रकट हो रही है। 'तद्भव' के बरक्स तत्सम की उपस्थिति सहज है, प्राचीन और नवीन (मुक्तिबोध) पीढ़ी के कवियों की सार्थक अनुगूंज प्रासंगिक है, नये काव्य विषय जैसे 'कुमार गंधर्व' मल्लिकार्जुन मंसूर' जगदीश स्वामीनाथन्' आदि समकालीन कलाकारों पर लिखी उनकी कविताएं कविता की श्रेष्ठतम् उपलब्धियों में से एक है।

इस तरह विगत 40 वर्षों की काव्य साधना के आधार पर स्पष्ट है कि अशोक वाजपेयी का काव्य भाषा, शब्द संस्कृति और जीवन तथा उसके विविध की अभिव्यक्ति के तनावों, एहसासों, अनुभूतियों के विन्यास का सकारात्मकता की ओर ले जाने का काव्य है।

सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे थे। उथल-पुथल का दशक खत्म होते ही नयी कविता के आन्दोलन बेजान होते देखे गये। इसी समय कविता और कहानी में युवा पीढ़ी ने नए तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया जिसका मुहावरा ही नया नहीं था बल्कि जिसकी यथार्थ दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था, किन्तु इस समय की एक प्रमुख घटना यह थी इस दौर के लेखकों का रूख सामान्यतः आलोचना का प्रबल विरोधी होना था किन्तु विपरीत परिस्थिति में भी रचना के भीतर से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए इन उभरे हुए आलोचकों में अशोक वाजपेयी और रमेश चन्द्र शाह, विष्णु खरे आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

आलोचना की चुप्पी और शास्त्रीयता तथा शाश्वत् प्रश्नों की रूढ़ि को तोड़ते हुए अशोक वाजपेयी ने आलोचना की अपनी पहली पुस्तक 'फिलहाल' में समकालीन कविता पर गहरा और न्यायसंगत विचारपूर्ण विवेचन किया। 'फिलहाल' में अज्ञेय, मुक्तिबोध, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल, कमलेश और विनोद कुमार आदि साठोत्तर हिन्दी कविता में प्रतिष्ठित कवियों का अध्ययन किया है। अशोक जी मूलतः कविता के आलोचक हैं (वे स्वयं भी कवि हैं) किन्तु उनकी आलोचना की दूसरी और तीसरी किताब 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' में कविता के साथ समकालीन भारतीय कलाओं की तर्क संगत और विचारपूर्ण समीक्षा देखने को मिलती हैं।

आलोचना अशोक वाजपेयी के लिये कोई आपदधर्म नहीं है यह घोषणा उन्होंने फिलहाल के आरम्भ में ही की थी इसलिए वे काव्य तथा कलाओं की आलोचना में सक्षम और उत्तेजक नजर आते हैं।

समकालीन काव्य से आरम्भ होकर अशोक वाजपेयी की आलोचना कई क्षेत्रों में गयी है। उसने भारतीय संस्कृति और कलाओं को भी साहित्य में जरूरी स्थान दिया है। इसी हासिये से बाहर की वस्तुएं मानने की रूढ़ि पर रोक लगाई है। अशोक वाजपेयी से जुड़े हुए कुछ सवालों को उठाना चाहता हूँ जैसे अशोक वाजपेयी की आलोचना दृष्टि क्या है? उन्हें किन-किन कारणों से जाना जाता है? वे कवि भी हैं और एक विवादास्पद संस्कृति कमी थी वे सफल संपादक भी

हैं और भारत सरकार के वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी भी। इन सबके साथ ही वे नयी कविता की कालजयी आलोचना के सृष्टा भी हैं। जिसे मार्क्सवाद का ढिंढोरा पीटने वाले भी नकार नहीं पाये। हिन्दी आलोचना में इतना गहरा और जरूरी हस्तक्षेप करने बाद भी अशोक वाजपेयी की चर्चा ज्यादातर साहित्येतर कारणों से लोगों ने की है।

जबकि यदि हिन्दी समीक्षा का प्रस्थान बिन्दु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं तो आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह उसके विकास के सोपान और नामवर सिंह के बाद की समूची पीढ़ी में अशोक वाजपेयी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में छायावाद के भीतर जो उपक्रम रामविलास शर्मा ने निराला को केन्द्र में लाने का किया, नयी कविता के दौर में नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के लिए किया, लगभग वही प्रयत्न साठ के बाद की युवा कविता आन्दोलन में अशोक वाजपेयी ने रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और केदारनाथ सिंह को स्थापित करने के लिए किया है।

अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना के केन्द्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति सूत्र देकर उनकी व्याख्या विश्लेषण न करके रचना में धीरे-धीरे परत दर परत प्रवेश करते हैं और गहराई में पहुंच कर एक तर्क संगत निष्कर्ष देते हैं जो आचार्य शुक्ल के सूत्र के समान तो नहीं उससे मिलता जुलता जरूर हैं। भाषा में रचना से प्राप्त प्रभावों के कारण रचना के जटिल से जटिल पक्ष भी साधारणतः समझ के दायरे में आ जाते हैं।

"आलोचना कर्म की सार्थकता इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकती कि वह रचना और विशेष रूप से समकालीन रचना की चुनौतियाँ स्वीकार करे उसके बाद आस्वाद विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए उपयुक्त उत्तेजक परिपेक्ष्य विकसित करे" अशोक वाजपेयी की आलोचना दृष्टि इस अर्थ में कसौटी पर सोलह आने खरी उतरती है। आलोचना की प्राथमिक जिम्मेदारी समसामयिक साहित्य के प्रति होनी चाहिए, स्वतंत्रोत्तर भारत में जिस तेजी से बदलाव आया है साहित्य भी उससे अछूता नहीं रहा है। सृजनात्मक आलोचना इसी साहित्यिक बदलाव से उत्पन्न दृष्टि है अशोक वाजपेयी इस सृजनात्मक आलोचना के प्रमुख आलोचक के रूप में पहचान बनाने वाले व्यक्ति हैं। उन्होंने कविता और रद्दी के गड्डमड्ड ढेर में से कविता को उठाकर उसे यथोचित सम्मान देने की हिम्मत दिखायी है।

'फिलहाल' अशोक वाजपेयी की आलोचना का जनतंत्र है यह जनतंत्र विचारधारा व्यक्तिवाद और शास्त्र की अतिरेक नीरसता और तानाशाही के विरूद्ध एक उम्मीद की तरह विकसित हुआ था। वह फिलहाल की जलवायु में अंकुरित होती युवा कविता के स्वप्न और यथार्थ में बुना गया जनतंत्र था जिसका समूचा विधान एक अतिवाद के विरूद्ध निषेध की खण्डन की भाषा और मूल्यों पर टिका हुआ था उस अतिरेक पूर्ण नीरस और तानाशाह व्यवस्था में घुटते कुण्ठित होते मूल्यों को यह एक शरणस्थली प्रतीत होती, जैसा कि हुआ भी।'' फिलहाल के जनतंत्र पर मदन सोनी की यह टिप्पणी कितनी सार्थक है इसका प्रमाण अशोक वाजपेयी की आलोचना को 'जनतंत्र' शब्द के संबोधन से ही स्पष्ट हो जाता है।

आलोचना में अशोक वाजपेयी ने व्यवहारिक आलोचना के सभी मानदण्डों को अपनाया है। परस्पर विरोधी प्रकृति के रचनाकारों को एक साथ आलोचना के लिये चुना है, और एक के कारण दूसरे की रचना को तुलनात्मक रूप में स्पष्ट भी किया है। जैसे कमलेश के साथ धूमिल आदि। लेखक कृति की आलोचना करते करते बीच बीच में आलोचना पर भी प्रहार करता देखा जा सकता है जैसे ''आलोचक निर्णायक बनने का दंभ लिए कविता को सामने कठघरे में खड़ा किए फैसला सुनाने को बेताब है,'' अति तीखी और बेबाक टिप्पणीयां अशोक वाजपेयी की आरम्भिक आलोचना के केन्द्र में हैं।

अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना केन्द्र में स्पष्ट वक्ता विचार के पक्षधर विचारधारा विरोधी, भाषा पर अधिकार प्राप्त मर्मज्ञ भारतीय पश्चिमी साहित्य के ज्ञाता और उसके आधार पर अपनी समझ विकसित करने वाले समीक्षक, साहित्य और कलाओं में संवाद स्थापित करने वाले उनमें (कलाओं) भी समसामयिक चेतना का प्रवाह ढूंढने की बहस छेड़ने वाले, सृजनशील समीक्षा के अधिष्ठाता, कविता के प्रबल समर्थक, आलोचना के ढर्रे में सुधार की मांग करने वाले निडर आलोचक, अपने समय के समाज और मनुष्य की हालत की पड़ताल करने वाले, भाषा की स्मृति और उससे जुड़े रहने के हित साधक हैं, अशोक जी समीक्षा की परिधि में कहीं भी कट्टरता का शिकार नहीं हुए हैं, उन्होंने फिलहाल में रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और केदारनाथ सिंह पर जो लिखा उसे अब तक कोई झुठला नहीं पाया।

इधर 'कुछ पूर्वग्रह' की आलोचना में अशोक वाजपेयी ने (80 के दशक को) कविता की वापसी का ऐलान करते हुए फिलहाल की जमीन से करवट ली

है। यहां फिलहाल का वह विपक्ष लगभग गायब है और तर्क भी वैसा नहीं मिलता। भाषा में वे फिलहाल से आगे बढ़े हैं किन्तु विपक्ष की अनुपस्थिति के कारण यहां ऐसे लगता जैसे वे प्रशस्ति वाचन कर रहे हैं।

सन् साठ के बाद आज हम जिन आलोचकों विश्वनाथ त्रिपाठी, मलयज, विष्णु खरे, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेशचन्द्र शाह, नंदकिशोर नवल, मैनेजर पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, मधुरेश, चन्द्रभूषण तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, विजय मोहन सिंह, प्रभात त्रिपाठी, प्रभाकर श्रोत्रिय, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, कुमार विकल, रमेश कुन्तल मेघ, लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रो. कमला प्रसाद आदि की चर्चा करते हैं तो उनमें अशोक वाजपेयी की उपस्थिति अपने आलोचनात्मक उद्यम के व्यापक केनवास के कारण लगातार चर्चा का विषय रही है।

फिलहाल जिसे युवा कविता आन्दोलन की पड़ताल का ग्रंथ माना गया है इस पुस्तक के अधिकांश लेख युवा कविता को विश्लेषित करते हैं जैसे दृश्यालेख, तलाश के दो मुहावरे, कुछ युवा कवि, युवा लेखन, साहस और उग्रता की पड़ताल, युवा कविता की आलोचना, अकविता एक नयी रूमानियत, नए पुराने का झगड़ा, समकालीन कविता जैसे लेख सातवें दशक की कविता की दशा और दिशा को विश्लेषित करने का एक साहसिक उत्तेजक और प्रामाणिक उपक्रम है। ''इस तरह सातवें दशक की कविता की जितनी गहन तात्विक और ऐतिहासिक जांच पड़ताल अशोक वाजपेयी कर पाते हैं उतनी अन्य आलोचक नहीं।''

अशोक वाजपेयी आलोचना के केन्द्र में रचना और आलोचना दोनों में कुछ जरूरी परिवर्तन के तनाव से युक्त हैं।

फिलहाल, 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' उनकी तीनों आलोचना पुस्तकों में यह तनाव देखा जा सकता है। अशोक वाजपेयी आलोचना में सभी मार्क्सवादी औजारों का अघोषित रूप से इस्तेमाल करते हैं और अपने समय की कविता, जिसका काल खण्ड स्वतंत्रता के बाद से अब तक 50 वर्षों तक फैला हुआ है। अशोक वाजपेयी की कविता आलोचना संबंधी स्थापनाओं, मान्यताओं से समकालीन कवि, आलोचकों की तीव्र असहमतियां रही हैं किन्तु इस बात को कौन और कैसे नकार सकता है कि आज कविता में अशोक वाजपेयी नामवर सिंह के बाद की पीढ़ी के अन्यतम आलोचक हैं। उनकी आलोचना नामवर सिंह की तरह कवि को कोई छूट नहीं देती। यहां यह भी दृष्टव्य है कि अशोक वाजपेयी की आलोचना न केवल रचना के बारे में सवाल उठाती है बल्कि स्वयं आलोचना को भी कटघरे में खड़ा करती है।

अशोक वाजपेयी की आलोचना में हमें पीढ़ियों की दीवारें टूटती नजर आती है उन्होंने नयी और पुरानी पीढ़ी के कवियों को एक साथ रखकर हिन्दी आलोचना के पुराने पीढ़ीवादी विवाद का खात्मा भी किया। शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, जैसे कवियों के काव्य वैशिष्टय को उजागर करने का एक साहसिक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। ''अशोक वाजपेयी की समीक्षा बहुत सूक्ष्म और अन्तर्भेदी होती है।''

युवा कविता आन्दोलन से आरम्भ होकर अशोक वाजपेयी की आलोचना ने लगातार अपने समय के नये पुराने कवियों के 'वैशिष्टय को उजागर' ही नहीं किया बल्कि अपने समय के महत्वपूर्ण कविता संसार पर निर्मम, निर्णायक और सटीक विश्लेषण भी किया है। जो उनकी व्यवहारिक और सैद्धान्तिक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। अशोक वाजपेयी की आलोचना जहां कविता में पॉजीटिव शक्ति पाती है उसे वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तरह मुग्ध भाव से एप्रीशिएट करती है, किन्तु जहां कहीं भी उसे कमजोरियाँ, अतियां, भ्रान्तियां और नकलीपन दीखता है वह तीखा प्रहार करती है। यह अशोक वाजपेयी की ही आलोचना है कि वह परस्पर विरोधी स्वभाव की कविता के लिये भी जगह देती है जैसे श्रीकान्त वर्मा और केदारनाथ सिंह के साथ रघुवीर सहाय, धूमिल के साथ कमलेश, अज्ञेय के साथ मुक्तिबोध यहां सब निभ जाते हैं परस्पर विरूद्धों का ऐसा सामन्जस्य हिन्दी आलोचना की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। अशोक वाजपेयी की आलोचना ही है जो कविता को मनुष्य की विश्वसनीय और समावेशी परिभाषा पर तौलती हैं।

अशोक वाजपेयी के लिये आलोचना स्पष्टतः एक एकाग्र साहित्यिक कर्म है ''उनके लिये आलोचना समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप है।'' उन्होंने लिखा है ''रचना के लिए यह जरूरी नहीं कि वह खुद अपनी हालत की अपने होने के औचित्य की पड़ताल करे जबकि आलोचना के लिए यह लगभग अनिवार्य है कि वह न केवल रचना के औचित्य के बारे में सवाल उठाए बल्कि स्वयं अपने बारे में भी निर्ममता से सवाल उठाए और उनके हल खोजे।'' लेखक की इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि वह अपनी आलोचना कर्म के केन्द्र में आलोचना के समकालीन परिदृश्य के प्रति कितना सजग, दो टूक और स्पष्ट है। अतः अशोक वाजपेयी को निरा कलावादी आलोचक घोषित कर देना तर्क संगत नहीं है। अशोक वाजपेयी स्पष्टतः कलाओं की स्वायत्तता के पक्षधर हैं। वे ''साहित्य को किसी विचारधारा के खूँटे में बांधकर देखने के सख्त विरोधी हैं। वे साहित्य को

समाज में एक स्वायत्त सत्ता के रूप में स्थापित करने के लिए अपने समूच आलोचनात्मक और संस्कृति कर्म में एक जिरह करने वाले आज अकेले 'डिफेन्स लायर' के रूप में मौजूद हैं। मुझे तो तरस आता है कि हिन्दी आलोचकों ने अशोक वाजपेयी का व्यक्तिगत विरोध तो खूब किया है पर थोड़ी सी भी एनर्जी उनकी आलोचनात्मक कृतियों को समझने में खर्च नहीं की।

अतः कहा जा सकता है कि रचना के लिए संघर्षरत् अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण साहित्यिक प्रदेय के शब्द व्यर्थ साबित नहीं हुए हैं (हालाकि यह कोशिश जमकर की गयी है) "स्व. विजय देव नारायण साही ने एक बड़े आलोचक की खूबी का जिक्र करते हुए कहा था कि "वही आलोचक बड़ा आलोचक बन सकता है जो निर्भय, साहसी हो जब तक वह साहसी नहीं होगा वह बड़ा आलोचक कैसे बन सकता है?"

हिन्दी आलोचना में यह साहस कम लोगों में देखने को मिलता है। "अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह की पीढ़ी के बाद दूसरे ऐसे आलोचक है जिनके आलोचनात्मक साहस की 'धार' 'केवल अपनी धार' है जिस पर वे बराबर निर्भय चल रहे हैं।"

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. इतिहास और आलोचना/नामवर सिंह/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि/चन्द्रदेव यादव/प्रेम प्रकाशन मंदिर दिल्ली
3. समकालीन आलोचना/वीरेन्द्र सिंह/पंचशील प्रकाशन जयपुर
4. हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ/सं. रामेश्वर खंडेलवाल/ लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
5. आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/डॉ. गायत्री वैश्य/ दिल्ली वि.वि.
6. साहित्य और सर्जना/डॉ. रामरतन भटनागर
7. समीक्षा दर्शन/रामलाल सिंह/इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग
8. संवाद और एकालाप/मलयज/ राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
9. परम्परा का द्वन्द और आलोचना/डॉ. राजेश्वर सक्सेना/शांति प्रकाशन इलाहाबाद
10. आलोचना और समकालीन रचना/प्रतिभा प्रकाशन इलाहाबाद
11. साहित्य की सामाजिक भूमिका/देवेश ठाकुर/अरविंद प्रकाशन मेरठ
12. समकालीन आलोचना और साहित्य/डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय/ओमप्रकाशन दिल्ली
13. सीढ़ियां शुरू हो गई हैं/वाणी प्रकाशन दिल्ली

14. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध/महादेवी वर्मा/ लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद
15. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी/नंददुलारे वाजपेयी/लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
16. आलोचना की कुछ नई दिशाएं/रामदरश मिश्र/प्रेमप्रकाशन दिल्ली
17. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी/डॉ. निर्मला जैन/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
18. आलोचना के नये मान/ डॉ. कर्ण सिंह चौहान/ मैक मिलन प्रकाशन दिल्ली
19. समकालीन आलोचना की भूमिका/ डॉ. मंजुल उपाध्याय/साहित्यकार जयपुर
20. साहित्य का समाजशास्त्र/ डॉ. नगेन्द्र/नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली
21. आधुनिक भारत में सामाजिक समस्याएं/एच.एस. वार्डिया/राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी

अशोक वाजपेयी के मौलिक एवं संपादित ग्रंथ -

22. शहर अब भी सम्भावना है/कविता संग्रह/भारतीय ज्ञानपीठ 1966
23. फिलहाल/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
24. एक पतंग अनंत में/वही
25. कुछ पूर्वग्रह/वही
26. अगर इतने से/वही
27. तत्पुरूष/वही
28. कहीं नहीं वहीं/वही
29. बहुरि अकेला/संस्कृति प्रतिष्ठान नई दिल्ली
30. समय के बाहर/बाग्देवी प्रकाशन बीकानेर
31. थोड़ी सी जगह/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
32. घास में दुबका आकाश/वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
33. होना पृथ्वी न होना आकाश/मोदी कला भारती नई दिल्ली
34. आविन्यो/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
35. तिनका तिनका भाग 1 और भाग 2/किताब घर नई दिल्ली
36. तीसरा साक्ष्य/संपादक अशोक वाजपेयी/संभावना प्रकाशन
37. साहित्य विनोद/सं. अ.वा./नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली
38. निर्मल वर्मा/सं. अ. वा./राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
39. कविता का जनपद/सं.अ.वा./राधा कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
40. पहचान सीरीज/सं.अ.वा./1970-74 म.प्र.
41. पूर्वग्रह/सं.अ.वा.
42. समास/सं.अ.वा.

❑❑❑

'शताब्दी के अंत के कगार पर' लम्बी कविता में कवि ने धरती को बचाने सहेजने का आखिरी छोर भी कवि, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी कुँजड़ा के हाथ से छूटते हुए दर्शाया है। कवि जीवन में शब्दों से कारगर हस्तक्षेप कर रहा है, कुम्हार अब भी मिट्टी को मनुष्य की आवश्यकतानुसार ढाल रहा है, लुहार अपनी भट्ठी में मनुष्य की कठिनाईयों को तपाकर उन्हें मनुष्य की जरूरत के अनुसार सदियों से जैसा आकार देता आया है आज भी वह अपना काम बखूबी कर रहा है। लुहार ने अपनी भट्ठी में ऐसा कुछ नहीं बनाया है जिससे समूची मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पहुँच जाए।

— इसी पुस्तक से